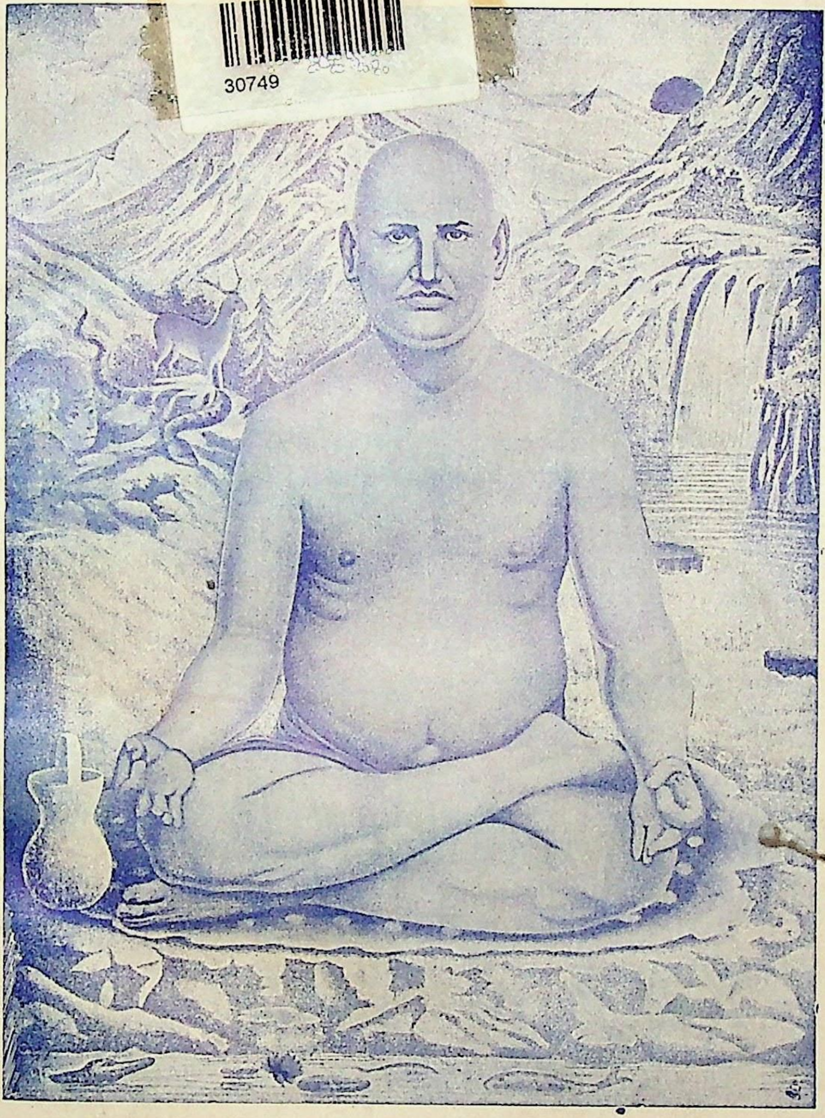


जन्म संन् १८२४] महर्षि स्वा० दयानन्द सरस्वती [मृत्यु सन् १८८३

ओ३म्

अथर्ववेदीय

पृथिवी सूक्त

[अ० १२ । १]

मातृभूमि का महत्व

व्याख्याकार—

वे० मा० श्री स्वामी वेदानन्द [दयानन्द] तीर्थ.

ओ३म्

'वेदोपदेश' प्रथम भाग के साथ साथ यह द्वितीय भाग भी लिखा गया था। प्रथम भाग को जन साधारण तथा विद्वद्वर्ग दोनों ने सराहा और अपनाया है। अब उसके संस्कृत तथा गुजराती संस्करण तैयार हो रहे हैं। वेद के प्रति लोगों की रुचि दिन प्रतिदिन वर्धमान हो रही है। इसी से प्रेरित होकर यह द्वितीय भाग जनता को भेंट करने लगा हूँ। इसमें तीन सूक्तों की व्याख्या है। व्याख्या कुछ विस्तृत है। यथाशक्ति वेद मन्त्रों का भाव सरल और सुबोध करने का यत्न किया गया है। इन सूक्तों में राष्ट्र के सम्बन्ध में वैदिक आदर्शों का निरूपण है। पाठक इसका मनन करें और अन्य आदर्शों से वैदिक आदर्शों की श्रेष्ठता का अनुभव करें।

पुस्तक तीन वर्ष तक पड़ी रही और अभी और भी पड़ी रहती अगर श्री मथुराप्रसादजी शिवहरे ने इसे प्रकाशन आलोक में लाने का उत्साह न किया होता। उन्हें किन शब्दों में साधुवाद कहूँ ? पुस्तक कदाचित् इतनी शुद्ध न छप सकती, यदि श्रीयुत सिद्धान्त-शिरोमणि पं० सत्यदेवजी मीमांसातीर्थ प्रभाकर इसके प्रूफ संशोधन का भार स्वीकार न करते। तदर्थ उन्हें धन्यवाद। इति ॥

विद्वदनुचर

वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

* ओ३म् *

प्राक्कथन

(श्री पं० भीमसेनजी विद्यालङ्कार)

अथर्ववेद का पृथिवीसूक्त स्वदेशभक्ति के भावों को जागृत करने वाला मन्त्र समुदाय है। श्री स्वामी वेदानन्दजी ने इस सूक्त का शब्दानुवाद तथा भावप्रदर्शक व्याख्यान किया है। वर्तमान समय में भारतवर्ष में इस सूक्त के भावों के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है, विशेषतः वेदाभिमानी आर्यसामाजिक संसार में। भारतवर्ष के आर्यों में एक भ्रमपूर्ण विचार दिन प्रतिदिन अधिकार पा रहा है। आर्य लोग अपनी दैशिक तथा वर्तमान कालिक अवस्थाओं से परवश हुए विदेशी सरकार के शासन तथा वैदिक जीवन को एक दूसरे के विरुद्ध नहीं समझते। वह समझते हैं कि विदेशी शासन की नौकरी तथा सहयोग करते हुए भी वैदिक धर्मी या आर्यसमाजी रहा जा सकता है। यह विचार आर्यपुरुषों की ऊंची श्रेणी के नेताओं में विशेषरूप से पाया जाता है। इसीलिये भारतवर्ष में आर्यधर्म पराधीनता की राख से ढंपा हुआ तेजस्वी रूप में प्रकट नहीं हुआ। विश्वप्रेम और स्वदेशप्रेम एक दूसरे के पूरक हैं। मातृभूमि के उपकारों से प्रेरित होकर हरेक मनुष्य के हृदय में स्वदेशप्रेम के भावों का जागृत होना स्वाभाविक है। प्रत्येक मनुष्य अपने २ राष्ट्र के लिये, इन मन्त्रों का पाठ करके हृदय में देशप्रेम तथा स्वतन्त्र होकर जीवन व्यतीत करने की प्रबल भावना पैदा कर सकता है। वेद मन्त्रों में प्रतिपादित स्वदेशप्रेम ईर्ष्या तथा परराष्ट्र-द्वेषमूलक नहीं है, यही इसकी विशेषता है।

मंत्र व्याख्यान में संस्कृत शब्दों का विशेष प्रयोग किया गया है। लेखक महोदय की संस्कृत धारावाहिता का यह परिणाम है। हमारी सम्मति में हरेक वेदाभिमानी को इस सूक्त का पाठ करना चाहिए, विशेषतः भारत के पराधीन आर्यों को। इति शुभम्।

* ओ३म् *

नम्र निवेदन

"पृथिव्या अकरं नमः"

लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस के साधनों का जितना सुन्दर प्रतिपादन वेदों में है, कदाचित् ही किसी अन्य धर्म्म ग्रन्थ में हो। मनुष्य को लोक परलोक का हित साधने के लिए जितने ज्ञान की आवश्यकता है, वह सब वेदों में है, ऐसा ऋषि मुनियों का मत है। स्वयं वेद में वेद को 'वैश्वदेवी' सब पदार्थों का ज्ञान कराने वाला कहा गया है। अर्थात् वेद सब विद्याओं का आकर है। जिसकी जितनी योग्यता है, उसी के अनुसार वह इस विद्यासागर से विद्या-माणिक्य प्राप्त कर सकता है।

वेदों में अध्यात्मविद्या अनूठी और अत्यन्त ऊंची है, और तो और सर्वजगन्मान्य उपनिषदें भी वेद के इस विभाग की टक्कर नहीं ले सकतीं। इन पंक्तियों के लेखक ने अध्यात्म विद्या विषयक वैदिक सूक्तों का संग्रह किया है, उसका नाम रक्खा है 'वेदोपनिषद्' अथवा 'औपनिषद् श्रुति-संग्रह' यथासमय यह संपूर्ण या भागशः छप कर पाठकों को प्राप्त हो जायगा। [योगोपनिषत् तथा ब्रह्मोद्योपनिषद् दो पुस्तकें छप चुकी हैं]।

इसी प्रकार दूसरी जो लौकिक विद्याएं हैं, उनके बोधक मन्त्रों का संग्रह 'वेद में विद्याएं' नाम से शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

कहने का सार यह है कि वेद में मनुष्योपयोगी सब ज्ञान है। मनुष्य जिस देश में उत्पन्न होता है, जिसके अन्न जल से उसके शरीर की पालना और पुष्टि होती है, उसके प्रति मनुष्य का कोई कर्त्तव्य है या नहीं? यदि है, तो किस प्रकार का, इसका जितना विशद और भव्य निरूपण वेद में है, अन्यत्र कहीं भी नहीं। अथर्ववेद के १२ वें काण्ड का पहला सूक्त पृथिवी सूक्त है; उसमें अत्यन्त हृदयग्राही शब्दों में स्वदेश के

मातृभूमि के प्रति मनुष्य का कर्तव्य बतलाया गया है। अन्य देशों के कवियों ने भी अपनी-अपनी भाषा में अपने-अपने देश की महिमा का वर्णन किया है, और अत्यन्त ओजपूर्ण शब्दों में किया है, किन्तु उनमें संकीर्णता तथा वैयक्तिकता का दोष पाया जाता है। वेद तो कवियों के कवि परम प्रभु की कल्याणी वाणी है, उसमें संकीर्णता, व्यक्तिगत चर्चा या एक देशीपन आ ही नहीं सकता, उसमें उदारता, व्यापकता का ज़ोर है। उसे जहां एक आर्य्य गाकर मस्त हो सकता है, एक अंग्रेज या जर्मन या अमरीकन भी उसी प्रकार उसके पाठ से तन्मयता प्राप्त कर सकता है। वेद अपने देश से प्रीति और भक्ति की शिक्षा करता है, दूसरे के देश से द्वेष या घृणा का पाठ नहीं पढ़ाता। यही है वेद की शिक्षा की महत्ता तथा श्रेष्ठता। सारे सूक्त को पढ़ जाइए, कहीं भी आपको एक ऐसा वाक्य या शब्द न मिलेगा, जिससे एकदेशिता की गन्ध आती हो। यदि इस वैदिक शिक्षा का प्रचार संसार में हो जाए, तो संसार से ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि समाप्त हो जाएं। परन्तु प्रचार इसका कौन करे! सनातनी और आर्य्यसमाजी दो दल वेद-प्रचार के ठेकेदार अपने को बताते हैं, किन्तु दोनों को पारस्परिक आन्तरिक झगड़ों से फुरसत नहीं, और दुर्भाग्य से दोनों दलों के जो नेता कहाते हैं, वे वेद की भाषा तो क्या, अधिकतर अक्षरों तक से अनभिज्ञ हैं। वेद न पढ़ने के कारण वे मनमानी चलाते हैं। वैयक्तिक और सामूहिक क्रिया भेद के ढोंग सामने रख कर अपने अपने दलों का नैतिक तथा आत्मिक पतन कर रहे हैं। आर्य्यसामाजिक, इन दोनों में से अधिक उपालम्भ के पात्र हैं, क्योंकि इनका तो परम धर्म्म ऋषि ने 'वेद का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना' निश्चित किया है, किन्तु इन की गति इतनी मन्द और शोचनीय है कि इन की सभाओं की बात तो दूर रही, बड़ी-बड़ी संस्थाओं के—गुरुकुल आदिकों के प्रमुख आचार्य्य आदि वे लोग हैं, जो वेद भाषा से सर्वथा कोरे हैं। इस से वेद-प्रचार की दीन अवस्था का अनुमान सहज में हो सकता है। संस्थाओं

पर लाखों का व्यय करने वाले यह आर्य्य वेद के प्रचार के लिए हज़ार दो हज़ार की राशि भी नहीं निकाल सकते। चाहिए था आजतक कम से कम भारत की मुख्य-मुख्य भाषाओं में वेद के प्रामाणिक अनुवाद छप जाते, किन्तु अवस्था यह है, कि ऋषिकृत भाष्य भी शुद्ध नहीं छापा जाता। अपने-अपने दलों और मठों की भटई में, और दूसरे दल की निन्दा तथा अपवाद में सारी शक्ति व्यय कर दी जाती है। वेदप्रचार कौन करे ?

अस्तु, अलं प्रसंगानुप्रसक्तेन। इस सूक्त में कुल ६३ मन्त्र हैं, किसी देशभक्त के हृदय में स्वदेश के प्रति जो पुनीत भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब इन मन्त्रों में विद्यमान हैं, कोई भी कवि इन से अधिक उच्च और नए भाव अंकित नहीं कर सकता। भगवान् और इन्सान का क्या मुकाबिला ! केवल देशभक्ति सम्बन्धी भाव ही इन में नहीं हैं, अपितु स्थान स्थान पर समुचित रीति से दार्शनिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी मनोहारिणी रीति से निर्देश किया गया है। यदि परतन्त्रता के पाश में बद्ध राष्ट्र इस सूक्त के अनुसार आचरण करे, तो स्वतन्त्रता-सुख का उपभोग करने लगे, स्वतन्त्र देश अनुसरण करे, तो स्वतन्त्रता को स्थायी बनादे।

अब कुछ एक मन्त्रों का भावार्थ यहां लिखते हैं। जिससे इस सूक्त की महत्ता पाठकों के हृदय पर बैठ जाए—

१ मन्त्र में उन साधनों का वर्णन है, जिनसे कोई राष्ट्र अपनी स्वतन्त्र सत्ता रख सकता है। इसी एक मन्त्र पर गंभीरता से विचार करें, तो वैदिक राजनीति की उत्कृष्टता भलीभांति समझ में आ जाती है। आज की राजनीति में जहां झूठ का एक प्रकार से साम्राज्य है, मौखिक सन्धि की तो बात क्या, लिखित सन्धि का भी इतना मूल्य नहीं माना जाता, जितना उस कागज़ का; जिस पर वह लिखी गई है, वहां वेद की राजनीति में सत्य को प्रथम स्थान दिया है, कितनी ऊंची बात है। फिर

आजकल की राजनीति में दूसरों को पीड़ा देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना एक साधारण बात समझी जाती है, किन्तु वेद की राजनीति में इसका स्थान ही नहीं, वहां तो अपने आप को कष्ट देना, सर्वदुःख सहन-तप की महिमा है। आजकल की राजनीति में स्वार्थ की प्रधानता है, किन्तु वेद तो 'यज्ञ' का = परोपकार का आदेश करता है।

५ वें मन्त्र में मातृभूमि से पुराने तथा गहरे संबन्ध का वर्णन है, देशप्रेमी को अपनी मातृभूमि में अपने पूर्वजों का गौरवमय इतिहास दीख रहा है।

८ वें मन्त्र में पृथिवी की रचना, पृथिवी का सूर्य्य से संबन्ध वर्णन वैज्ञानिक तथा काव्यमय है।

१० वें मन्त्र में भूमि को माता कहा गया है। मातृभूमि के संबन्ध की यह कल्पना भी अन्य सत्कल्पनाओं की भांति वैदिक है। इसी मन्त्र में देशवासी को मातृभूमि का पुत्र बताया गया है। इसी प्रकार १२ वें में 'माता भूमिः पुत्रोहं पृथिव्याः' १५ वें में 'त्वज्जाताः' १७ वें में 'मातरं' ६३ में 'भूमे मातः' शब्द इस कल्पना के प्रबल प्रमाण हैं।

२६ वें मन्त्र में 'पृथिव्या अकरं नमः' और ४२ वें में 'भूम्यै नमोऽस्तु' वाक्य बता रहे हैं कि 'वन्देमातरम्' का मूल भी वेद ही है।

यह केवल दिग्दर्शनमात्र करा दिया है, सारे सूक्त को विचार पूर्वक मनन करने से स्वदेशभक्ति संबन्धी कई अनूठे और मनभावने सिद्धान्त मिलेंगे।

वैदिक स्वराज्य में सब का समान अधिकार होता है। किसी एक व्यक्ति का वहां इजारा या ठेका नहीं चलता। ऋग्वेद ५। ६६। ६ में 'बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये' 'अनेकों से रक्षणीय स्वराज्य में यत्न करें' इस का प्रमाण है। इस संबन्ध में और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु वह किसी अन्य अवसर पर लिखा जाएगा।

इस सूक्त में अनेक स्थलों पर भूमि को संबोधन किया गया है, यह स्वाभाविक ही है। समस्त संसार की भाषाओं में ऐसे संबोधन पाए जाते हैं। और इस सूक्त में नमस्कार का अर्थ भी विलक्षण है, यह सब व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है।

श्री पं० भीमसेनजी ने प्राक्कथन लिखने की कृपा की है, तदर्थ उन का धन्यवाद।

वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

वेदोपदेश

राष्ट्रधारक गुण

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञं पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरु लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

(सत्यं) सचाई (बृहद्) बड़ाई, महत्वाकांक्षा (ऋतं) नियम-पालन, न्याय्य व्यवहार (उग्रं) उग्रता, तेजस्विता (दीक्षा) दीक्षा (तपः) तपस्या, तितिक्षा (ब्रह्म) ब्रह्मचर्य्य, आत्मज्ञान (यज्ञं) यज्ञ (पृथिवीं) पृथिवी को (धारयन्ति) धारण करते हैं। (सा) वह (नः) हमारे (भूतस्य) अतीत (भव्यस्य) भावी की (पत्नी) पालन करने वाली (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमारे लिए (उरु) विस्तृत (लोकं) स्थान (कृणोतु) करे।

मातृभूमि की स्वतन्त्रता को स्थिर रखने के लिए जो गुण अत्यन्त आवश्यक हैं, उनका इस मंत्र में वर्णन है—(१) सत्य = अटल सचाई, जो लोग देश के प्रति सत्यनिष्ठा से व्यवहार नहीं करते, वे स्वदेश से धोखा करके इसे अधोगति की ओर ले जाते हैं। अतः स्वदेशप्रेमियों को स्वदेश के प्रति निष्कपट सत्य का व्यवहार करना चाहिए। (२) बृहत् = बड़ाई = महत्वाकांक्षा, जो लोग देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करते हैं, यदि उनके भाव क्षुद्र हों, आकांक्षाएं तुच्छ हों, आशय नीच हों तो उनमें स्वतन्त्रता के लिए सच्चा प्रेम हो ही नहीं सकता, स्वत-

न्त्रता के लिए वे कुछ भी त्याग नहीं कर सकते। अतः मातृभूमि की स्वतन्त्रता के अभिलाषी लोगों के भाव उच्च हों, उनमें बड़प्पन की स्वाभाविक उमंग हो। (३) ऋतं = न्याय्य व्यवहार या नियम-पालन, स्वतन्त्रता के लिए उद्विग्न हुई जनता जहां विदेशी शासकों के रचे विधानों के विरुद्ध खड़ी हो जाती है, वहां उद्दण्ड होकर अपने बनाए नियमों की भी परवाह नहीं करती। परिणाम यह होता है कि अराजकता फैल जाती है, उस अराजकता के समय फिर उन्मत्त हुई जनता न्याय, अन्याय का विवेक नहीं करती। उस समय जनता के हाथों अनेक अकथनीय अत्याचार होने लगते हैं। उसका बहुत बुरा फल होता है, अत्यन्त परिश्रम तथा तितिक्षा से प्राप्त स्वतन्त्रता भी डांवाडोल दशा में दीखने लगती है। (४) उग्र = उग्रता = तेजस्विता, स्वतन्त्रतासंघर्ष में कभी कभी ऐसे कृत्य भी करने पड़ते हैं, जो साधारण स्थिति में कदाचित् किसी को भी पसन्द न हों। ऐसे समय पर भीरु लोग धैर्य्य छोड़ बैठते हैं। उन्हें व्यामोह हो जाता है। अतः भीरुता का त्याग करके उग्रता = तेजस्विता धारण करनी चाहिए। (५) दीक्षा = दृढ़ संकल्प, एक मनुष्य सत्यप्रेमी भी हो, महत्वाभिलाषी हो, नियम-पालन के भाव भी रखता हो, तेजस्वी भी हो, किन्तु हो ढीला ढाला, तो गुणवान् होता हुआ भी अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अतः ऊपर कहे गुणों के साथ अपने कार्य्य को पूर्ण करने का दृढ़ = पक्का संकल्प भी अत्यन्त आवश्यक है। (६) तप = तितिक्षा, कार्य्य सिद्धि में अनेक बार विघ्न आते हैं, कई बार स्पष्ट असफलता पिशाची के दर्शन होते हैं। लोक में प्रसिद्ध है 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' = भले कामों में बहुत विघ्न होते हैं, उन विघ्नों को तथा भूख प्यास, सरदी गरमी, हानि लाभ आदि की परवाह न करके लक्ष्य सिद्धि के लिये सब कुछ सहे। (७) ब्रह्म = ब्रह्मचर्य्य तथा आत्मज्ञान। परमात्मा का सदा कृतज्ञ रहे, सदाचारी रहे। नास्तिक तथा लम्पट मनुष्य प्रथम तो सफल ही नहीं होते, यदि सफल हो भी

जाएं, तो वह सफलता चिरस्थायिनी नहीं होती। आस्तिकता तथा सदाचार से आत्मज्ञान = आत्मशक्ति का ज्ञान होता है। कार्य्य के लिए अपेक्षित शक्ति तथा साधनों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए, जो विना अपने बल सामर्थ्य का अन्दाज़ा किए किसी गुरुतर कार्य्य में प्रवृत्त होते हैं, वे बहुधा विफल मनोरथ होते हैं। अतः अपनी शक्ति और साधनों का भी पूरा ज्ञान रखना चाहिए। (८) यज्ञ = दान, संगतिकरण, देवपूजा। देशहितैषी, कलाकोविद महापुरुषों के साथ सदा मेलजोल रखने से देशहित के नए-नए भाव तथा उत्तम-उत्तम उत्तेजनाएं मिलती रहती हैं। जिस देश में देवपूजा = विद्वानों का सत्कार आदर नहीं होता। वहां दुःख दारिद्र्य सदा बने रहते हैं, क्योंकि यथेष्ट आदर न होने के कारण वे विद्वान् या तो दूसरे देशों में चले जाते हैं या विद्या व्यवसाय छोड़ कर कोई दूसरा व्यापार करने लग जाते हैं। 'यज्ञ' शब्द के अन्दर अनेक भावों का समावेश है, स्वार्थ त्याग, दलितों, दुःखितों के दुःख दूर करना, योग्य पदार्थ को योग्य स्थान में लगाना, परहितचिन्तन, राष्ट्रहित के योग्य विपुल सामग्री का इकट्ठा करना इत्यादि भावों का बोधक यज्ञ शब्द है।

संसार के इतिहास पर दृष्टि डालिए। स्वतन्त्रता प्राप्त करने तथा उसे स्थिर रखने के लिए इन गुणों की सदा आवश्यकता रही है।

उत्तरार्ध में एक अनुपम सत्य का निरूपण है। मातृभूमि हमारे अतीत गौरव का एक विशाल भाण्डागार है, हमारी भविष्यत् की आशाएं इसी में निहित हैं।

जिस राष्ट्र में उपर्युक्त गुण हैं, उस राष्ट्र के निवासियों को स्वदेश तथा परदेश में स्थानादि की कहीं भी तंगी नहीं होती। पराधीन देश के वासियों को स्वदेश में भी स्थान नहीं मिलता है, परदेश में तो मिलना ही क्या है।

समता के भाव

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्य्या ओषधीर्या बिभर्त्तिपृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

(यस्याः) जिस भूमि के (मानवानां) मननशील मनुष्यों के (मध्यतः) अन्दर (असंबाधं) रुकावट नहीं है और जिस के अन्दर (बहु) बहुत (उद्वतः) ऊंचे स्थान (प्रवतः) नीचे स्थान तथा (समं) समतल स्थल हैं, अथवा जिसके मनुष्यों के अन्दर उत्तम और श्रेष्ठ उन्नतिकारी तथा अत्यन्त समता के भाव हैं। और (या) जो (नानावीर्य्याः) अनेक शक्तियों वाली (ओषधीः) ओषधियों को (बिभर्त्ति) धारण करती हैं, वह (नः पृथिवी) हमारी पृथिवी (नः) हमारे (प्रथतां) यश को (राध्यतां) प्रसिद्ध करे अथवा वह (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमारे लिए (प्रथतां) खुली रहे और (नः) हमारे लिए (राध्यतां) समृद्ध हो, धनधान्य से भरपूर हो ।

जिस देश में फूट नहीं है। परस्पर विद्वेष नहीं है, एक दूसरे को नीचा दिखाने के नीच भाव नहीं हैं। प्रत्युत इसके विपरीत सब में समता तथा समानता के उत्तम और पवित्र आशय हैं। जहां एक दूसरे की उन्नति करने कराने की शुभ कामनाएं रहती हैं। जहां के नेता एक मत हैं। जहां देश के स्वास्थ्यसाधन तथा जठरानल की ज्वालामाला को शांत करने के लिए नाना प्रकार की बढ़िया से बढ़िया ओषधियां तथा वनस्पतियां हैं। जिस देश के नेता स्वदेश में इन अपेक्षित पदार्थों की उपज का योग्य प्रबन्ध रखते हैं, उस देश के लोगों का स्वातन्त्र्य तो स्थिर रहता ही है, उसकी कीर्त्ति भी दूर दूर तक फैल जाती है। वह देश अपने वासियों के लिए पर्य्याप्त विस्तृत रहता है, वहां किसी को भी तंगी का सामना नहीं करना पड़ता, किसी को भी अनुपपत्ति का मुख नहीं देखना पड़ता, सब संपन्न तथा समृद्ध रहते हैं।

रसके मुख्य अधिकारी

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजद्
सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

(यस्यां) जिस भूमि में (समुद्रः) समुद्र, सागर (उत) और (सिन्धु) नदी नद (आपः) जल, झील, तालाब, झरने, पुष्कर आदि हैं (यस्यां) जिस हमारी भूमि में (अन्नं) अन्न और (कृष्टयः) खेतियां अथवा कृष्टि = उद्योगी मनुष्य (संबभूवुः) होते हैं। (यस्यां) जिस मातृभूमि में (इदं) यह प्रत्यक्ष दीखने वाला (प्राणत्) सांस लेता हुआ और (एजत्) हरकत करता हुआ प्राणिवर्ग (जिन्वति) प्रसन्न होता है, आनन्दित होता है, (सा) ऐसी (भूमिः) भूमि (नः) हमें (पूर्वपेये) पूर्वपेय = प्रथम पान के लिए (दधातु) धारण करे ।

जिस हमारी मातृभूमि में बड़े बड़े समुद्र तथा सागर, कलकल ध्वनि करती हुई क्षीरसमान नीर वाली उत्तम नदियां तथा बड़े बड़े उत्तुंगतरंगों वाले नद बहते हैं। जहां सुन्दर दृष्टिविलोभी झरने, ताल, तलैया एवं पुष्कर हैं। जिसमें प्राणिवर्ग आनन्द से जीवन निर्वाह कर रहे हैं। जिसमें भरपूर अन्न होता है, जहां के खेत सदा शस्य-श्यामल रहते हैं। जहां उच्च कोटि के उद्योगशील शिल्पी, कारीगर रहते हैं। वह हमारी मातृभूमि दूसरों की अपेक्षा पहले हमें ही अपने रस का पान कराए। पूर्वपेय शब्द यहां बहुत महत्व का है। जिस देश में जो कुछ पैदा होता है, उस पर पहले वहां के निवासियों का अधिकार है। बचे तो दूसरे देशों को दो। किन्तु यह तभी संभव है, जब वह देश स्वतन्त्र हो। परतन्त्र देश की तो कोई वस्तु अपनी नहीं रहती।

अन्नदात्री

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या
यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्त्ति बहुधा प्राणदेजत्
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

(यस्यां) जिस भूमि में (कृष्टयः) खेतीहर किसान (अन्नं) अन्न को (संबभूवुः) उपजाते हैं (यस्याः) जिस (पृथिव्याः) पृथिवी की (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएं उपदिशाएं अन्न उपजाती हैं, (या) जो भूमि (बहुधा) अनेक बार और अनेक प्रकार से (प्राणत्) सांस लेने वाले तथा (एजत्) प्रगति करने वाले जीव-समूह को धारण करती है, (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (गोषु) गौओं में (अपि) तथा (अन्ने) अन्न में (दधातु) धारण करे ।

ऐसे भी देश हैं, जहां के कृषक तथा दूसरे कारीगर बड़े बुद्धिमान् तथा पुरुषार्थी हैं, जहां की भूमि खूब उर्वरा है, किन्तु वहां के लोग दाने दाने को तरसते हैं, एक एक अन्न-कण के लिए लालायित रहते हैं। जहां गौ, भैंस, बकरी आदि दूध देने वाले पशुओं की बहुतायत है, किन्तु उस देश के अधिक वासी दूध के दर्शन भी नहीं कर पाते । जहां घोड़े आदि सवारी के पशुओं की बहुलता है, किन्तु लोगों का बड़ा हिस्सा उसकी कल्पना भी नहीं कर पाता । वेद कहता है, हे मनुष्यो ! वह तुम्हारी भूमि तुम्हारे लिए सारी विपुल सामग्री दे । वहां के गौ आदि पशु तथा नाना प्रकार के अन्न आदि तुम्हारे उपभोग के लिये हों । तुम्हारी मातृभूमि की ये सारी वस्तुएं तुम्हारी ही रहें । देश में उत्पन्न होने वाले पदार्थ उसी देश के वासियों के उपभोग में यदि न आए, तो वह उन के नहीं, अपितु उपयोग करने वाले के हैं ।

पूर्वजों की विक्रमस्थली

यस्यां पूर्वे पूर्वजना वि चक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्त्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

(यस्यां) जिस मातृभूमि में हमारे (पूर्वे) प्राचीन (पूर्वजनाः) पूर्व पुरुषों = बड़ों ने (वि + चक्रिरे) विविध कर्म्म अथवा विक्रम-पराक्रम-युक्त कर्म्म किए । (यस्यां) जिसमें (देवाः) विद्वानों ने, दानियों ने, ज्ञानियों ने (असुरान्) मूर्खों, कंजूसों, अपकारियों, दुष्टों को (अभि + आ + वर्तयन्) हराया, दबाया और जो (गवां) गौओं की (अश्वानां) घोड़ों की (च) और (वयसः) पक्षियों की (वि-स्थाः) विशेष सुख देने वाली जगह है । ऐसी (पृथिवी) हमारी विशाल मातृभूमि (नः) हमें (भगं) ऐश्वर्य तथा (वर्चः) तेजस्विता (दधातु) देवे ।

मातृभूमि के साथ कितना गहरा घनिष्ट सम्बन्ध है । हमारे पुरातन पूर्व पुरुषों के विक्रम की क्रीडास्थली यह मातृभूमि हमारे लिए अनेक पुनीत स्मृतियों का पुंज है । इसी हमारी मातृभूमि में देवासुर संग्राम हुए जहां परोपकार ने स्वार्थ पर, धर्म ने अधर्म्म पर, ज्ञान ने अज्ञान पर, पुण्य ने पाप पर, सत्य ने असत्य पर, दया ने हिंसा पर विजय प्राप्त की । जहां हमारे बुजुर्गों ने अपनी तेजस्विता और शूरवीरता का परिचय दिया उनके पुनीत पुरुषार्थ के कारण आज हमारी इस मातृभूमि में पशुपक्षियों की बहुलता है । वे स्वच्छन्द विहरण करते हैं । हे प्रभो ! वह भूमि हममें भी वैसी विक्रमशीलता, शूरवीरता, तेजस्विता, उदारता, पर दुःखदुःखिता आदि सद्गुणों को उत्तेजित करने वाली हो ।

विश्वंभरा भूमि

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्नि-
मिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

(विश्वंभरा) सब के धारण पोषण करने वाली (वसुधानी) धन धान्य के रखने वाली (प्रतिष्ठा) सब वस्तुओं का आधार (हिरण्यवक्षाः) छाती में सोना चांदी आदि धातुओं को रखने वाली (जगतः) जंगम जगत् को (निवेशनी) स्थान देने वाली (वैश्वानरं) सब के नेता, सब के जीवनदाता (अग्निं) ज्ञानी, अग्नि को (बिभ्रती) धारण करती हुई (इन्द्रऋषभा) इन्द्र=राजा अथवा सूर्य है ऋषभ=सुखवृष्टि करनेवाला जिसका ऐसी यह हमारी (भूमिः) मातृभूमि (नः) हमको (द्रविणे) धन में ऐश्वर्य्य में (दधातु) धारण करे ।

भूमि पर सबका पालन-पोषण होता है, सबको यह पृथिवी धारण कर रही है । सारे ऐश्वर्य्यों की यह खान है । सबको इस में आश्रय मिलता है । अग्नि के समान तेजस्वी, सबकी उन्नति चाहने वाले और सबको उन्नतिशिखर पर ले जाने वाले नेताओं को भी यही भूमि ही आश्रय देती है । धर्म्मात्मा राजा इस भूमि को सुखधाम बना देता है, अथवा सूर्य जिस पर वृष्टि द्वारा नाना सुखों की वृष्टि करता है । सोना, चांदी, लोहा, तांबा, सीसा आदि धातु उपधातु तथा हीरा, पन्ना, नीलम आदि बहुमूल्य प्रकाशमान रत्नों से भरपूर भूमि हमें धनधान्य से भरपूर करे । पाठक ! सोचिए, यह कब संभव हो सकता है ।

विश्वदानी भूमि

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं
देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहा—
मथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

(यां) जिस (विश्वदानीं) सब कुछ देने वाली (पृथिवीं) विस्तृत विशाल, खुली (भूमिं) मातृभूमि की (अ-स्वप्नाः) स्वप्न=आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, अज्ञान आदि दोषों से रहित (देवाः) विद्वान्, परोपकारी, विजयशील, शूरवीर, आनन्दी धर्म्मात्मा (अ-प्रमादं) प्रमाद=सुस्ती छोड़कर, सावधान होकर (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (सा) वह हमारी मातृभूमि (नः) हमें (प्रियं) प्यारा, प्रीतिकारक (मधु) मीठा, मधुर, सुखद पदार्थ समूह (दुहां) देवे (अथो) और हमें (वर्चसा) वर्च=तेज, शूरता, वीरता, ज्ञान, विज्ञान से (उक्षतु) सिंचित करे।

वास्तव में मातृभूमि स्वसन्तान को सब कुछ देती है, हमारी सारी आवश्यकता को पूरा करती है। सर्व प्रकार से पालन पोषण करने वाली माता को रक्षा की आवश्यकता होती है। माता की रक्षा का भार सन्तान पर ही होता है, जिस माता की सन्तान रक्षा नहीं कर सकती, वह माता सन्तान की सुख सामग्री का प्रबन्ध नहीं कर सकती, अतः सुपुत्र माता की रक्षा में सदा जागरूक रहते हैं। ठीक यही बात मातृभूमि के संबंध में है। जिस देश के निवासी सदा सावधान रहते हैं, अपने देश पर किसी भी शत्रु के आक्रमण की सूचना पाकर उसका मान मर्दन करने को तत्पर हो जाते हैं, वे विपुल सुख पाते हैं। और जिनकी मातृभूमि शत्रुओं से पादाक्रान्त रहती है, जो स्वदेश की रक्षा में प्रमाद करते हैं, वे सब सुखों से वञ्चित हो जाते हैं।

तेज देने वाली

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्
यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ॥
यस्या हृदयं परमे व्योमन्
सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं, बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

(या) जो (अग्रे) पहले, सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व (अर्णवे अधि) समुद्र में, अन्तरिक्ष में (सलिलं) जलरूप, द्रवावस्था वाली (आसीत्) थी, (यां) जिसकी (मनीषिणः) बुद्धिमान्, ज्ञानी जन (मायाभिः) बुद्धियों से, शक्तियों से, युक्तियों से (अनु-अचरन्) अनुकूलतया सेवा करते आए हैं (यस्यां) जिस (पृथिव्याः) पृथिवी का (हृदयं) हृदय (परमे) परम (व्योमन्) आकाश में है तथा च जो (सत्येन) सत्य से, अबाध नियम से (आवृतं) ढका है और (अमृतं) अविनाशी है, (सा भूमिः) ऐसी हमारी मातृभूमि (उत्तमे) उत्तम, श्रेष्ठ (राष्ट्रे) राष्ट्र में (नः) हमें (त्विषिं) कान्ति और (बलं) बल (दधातु) देवे ।

सर्जनोन्मुख प्रकृति में जब क्षोभ आता है, तो सब कुछ द्रवीभूत हो जाता है, मानो सब कुछ जलमय होता है । उसी में पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्र आदि सारे लोक मूलरूप में रहते हैं, इस सत्य का निरूपण इस मन्त्र से किया गया है । पृथिवी का हृदय=आकर्षक सूर्य्य है, वह परमाकाश में स्थित है, वह अमर है अर्थात् जबतक सूर्य है, पृथिवी अवश्य बनी रहेगी । और वह हृदय सत्य के=अबाध नियमों के वशीभूत है । ज्ञानी लोग इस प्राकृत सत्य को जान कर मातृभूमि की सेवा में लगते हैं । वे इस अद्भुत विज्ञान को समझकर मातृभूमि को अपने हृदय की भांति प्यार करने लग जाते हैं, और उसके आकर्षण से सदा खिंचे रहते हैं ।

भूरिधारा

यस्यामापः परिचराः समानी-
रहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सानो भूमिर्भूरिधारा पयो
दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

(यस्यां) जिसमें (समानीः) समान रीति से (परिचराः) सब ओर बहने वाले, सेवकों के समान कार्य्य करने वाले (आपः) जल (अहोरात्रे) दिन रात (अप्रमादं) आलस्यरहित होकर (क्षरन्ति) बहते हैं। अथवा (यस्यां) जिसमें (परिचराः) सब ओर घूमने वाले, लोकसेवा में लगे हुए (आपः) जल के समान शीतलता प्रदान करने वाले अनेक विद्याओं में व्याप्त, आप्त संन्यासी (समानीः) सब पर सम दृष्टि रखने वाले होकर (अहोरात्रे) रात दिन, सदा (अप्रमादं) प्रमाद रहित (क्षरन्ति) विचरते हैं। (सा) वह (भूरिधारा) अनेक धाराओं वाली, अनेकों को धारण करने वाली (नः) हमारी (भूमिः) मातृभूमि (पयः) दूध, जल आदि (दुहां) देवे (अथो) और (वर्चसा) तेज, बल, वीर्य्य, पराक्रम से हमें (उक्षतु) सींचे।

जिस देश में विपुल जल हो, कहीं भी जलाभाव से कष्ट न हो। जिस देश में संन्यासी जितेन्द्रिय, वीतराग, तपस्वी हों, समदृष्टि हों। देश हित के प्रबल भाव से प्रेरित होकर सर्वत्र समान दृष्टि से देश हित करने और कराने को विचरते हों। उस देश में दूध, घी, जल की कमी क्यों होने लगी ? वहां के ब्राह्मण ज्ञानी होते हैं, क्षत्रिय प्रचण्ड शूरवीर होते हैं, वैश्य धन-धान्य संपन्न होते हैं। कोई दरिद्र और भूखा नहीं रहता है। स्वतन्त्रता का जहां साम्राज्य हो, वहां इन उत्तम पदार्थों का वास होता है।

भूमि माता

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां सचीपतिः ।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ।। १० ।।

(यां) जिस को (अश्विनौ) अश्वी = दिन रात, अथवा रक्षक और नाशक शूरवीर, अथवा आकर्षण और विकर्षण शक्तियें (अमिमातां) मापती हैं (विष्णुः) सूर्य्य या यज्ञ या प्रजासंघ (यस्यां) जिसमें (विचक्रमे) पैर धरता है (शचीपतिः) बुद्धिमान्, शक्तिमान्, (इन्द्रः) नरेन्द्र = राजा (यां) जिस को (आत्मने) अपने लिए (अनूअमित्रां) शत्रु रहित (चक्रे) करता है (सा) वह (नः) हमारी (भूमिः माता) भूमि माता (मे पुत्राय) मुझ पुत्र को (पयः) दूध जलादि (वि-सृजतां) विशेष रूप से देवे ।

अश्वी = दिन रात जिसको मापते हैं, अर्थात् जहां खुले दिन और खुली रात्रिएं हैं, जहां के शूरवीर केवल स्वदेशरक्षक ही नहीं, अपितु आक्रमणकारियों के नाशक भी हैं, जहां सूर्य्यप्रकाश प्रचण्ड है, सूर्य्य के पैर = किरणें अबाध रूप में पृथिवी का स्पर्श करती हैं, जहां यज्ञ याग, परोपकार आदि के कार्य्य विना रोक टोक होते हैं, जहां राज्य के कार्य्यों में प्रजासंघ का पर्य्याप्त हाथ है । जहां बुद्धिमान् राजा ने अपनी कार्य्य-पटुता से देश के भीतरी और बाहरी शत्रु नाश कर दिए हैं, अथवा किसी को भी अमित्र = शत्रु नहीं रहने दिया, वह भूमि सचमुच वहां के वासियों के लिए माता है । जिस प्रकार बालक अपनी मां की गोद में बेखटके बैठता है, निर्द्वन्द्व होकर मां का मधुर बलवर्धक दूध पीता है, इसी भांति स्वच्छन्द, सुरक्षित मातृभूमि में उसके बालक अभय होकर विचरते हैं, यथेष्ट सुखोपभोग करते हैं ।

सब रंगों वाली

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तो-
ऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां
ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ।। ११ ।।

हे (पृथिवी) विस्तृत मातृभूमे ! (ते) तेरी (गिरयः) पहाड़िएं (हिमवन्तः) हिम से ढके हुए = बर्फीले (पर्वतः) पहाड़ तथा (अरण्यं) वन जंगल (ते) तेरे लिए (स्योनं अस्तु) सुखदायी हों । (अहं) मैं (बभ्रुं) सब का भरण-पोषण करने वाली, अथवा धूसर रंग वाली (कृष्णां) जोतने योग्य वा काली नीली, (रोहिणीं) नाना प्रकार के वृक्ष, लता, गुल्म, अन्न, ओषधि आदि को उगाने वाली या लाल रंग वाली अतएव (विश्वरूपां) सब रूपों वाली या सबको रूप = स्वसत्ता प्रदान करने वाली (ध्रुवां) दृढ़ (पृथिवीं) विशाल, विस्तृत (इन्द्रगुप्तां) वीर पुरुषों से रक्षित, योग्य राजा से पालित या मेघ से पोषित (पृथिवीं) सब के सुखों का विस्तार करने वाली (भूमिं) मातृभूमि को (अजीतः) किसी से जीर्ण न होकर, (अहतः) किसी से न मारा जाकर तथा (अक्षतः) किसी प्रकार की चोट खाए विना (अधि अष्ठाम्) अधिष्ठाता बनता हूं ।

मातृभूमि के वनों और पर्वतों में बहुधा स्वदेशी तथा विदेशी डाकू आकर अपना अड्डा जमा लेते हैं, और फिर वहां से नाना उपद्रव करते हुए देश का अनेक प्रकार से अनिष्ट करते हैं । ऐसे अनिष्टों से, उपद्रवों से स्वदेश की रक्षा करनी चाहिए अकम्प वीर पुरुष ही ऐसे उपद्रवों से माता की रक्षा कर सकते हैं ।

माता भूमि

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व
माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

हे (पृथिवि) पृथिवि ! (यत्) जो (ते) तेरा (मध्यं) मध्य भाग है (च) और (यत्) जो (नभ्यं) केन्द्र स्थान है, और (याः) जो (ऊर्जः) रस आदि (ते) तेरे (तन्वः) शरीर से (संबभूवुः) उत्पन्न होते हैं, (तासु) उनमें (नः) हमें (अभि धेहि) प्रतिष्ठित कर और (नः) हमें (पवस्व) पवित्र कर, गति दे । (भूमिः) भूमि मेरी (माता) मां, मान्य करने वाली है और (अहं) मैं (पृथिव्याः) पृथिवी का (पुत्रः) पुत्र, त्राण करने वाला हूं (पर्जन्यः) सब को तृप्त करने वाला मेघ (पिता) पिता है (सः) वह (उ) भी (नः) हमें (पिपर्तु) तृप्त करे, भरपूर करे, पाले ।

पृथिवी से नाना प्रकार के उत्तम, जीवनप्रद, बलवर्द्धक रस उत्पन्न होते हैं, जिनका सेवन करने से मनुष्य में विलक्षण स्फूर्ति, विचित्र उत्साह तथा अद्भुत साहस पैदा होता है । विचार दृष्टि से देखा जाय तो यह धरती सचमुच हमारी माता है । हमें भी माता के प्रति पुत्र = विपत्ति से त्राण करने वाली संतान की भांति व्यवहार करना चाहिये, ताकि माता सदा बन्धनमुक्त रहे ।

इस मंत्र में भूमि को स्पष्ट शब्दों में माता कहा गया है । मातृभूमि का भाव इसी मन्त्र से प्रचलित हुआ है ।

यज्ञिय भूमि

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्म्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्याम् ऊर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्॥
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना॥ १३॥

(यस्यां भूम्यां) जिस भूमि में (वेदिं) यज्ञ वेदि को (परि+गृह्णन्ति) स्विकार करते हैं, घेरते हैं (यस्यां) जिस में (विश्वकर्माणः) सब कर्म्मों में कुशल, सर्व हितसाधक सब शुभ कर्म्मों के साधक विद्वान् शिल्पी (यज्ञं) यज्ञ का=विद्वानों का सत्कार, योग्य पदार्थों का योग्य रीति से संमिश्रण, दान आदि सत्कर्मों का (तन्वते) विस्तार करते हैं, (यस्यां पृथिव्यां) जिस विस्तृत पृथिवी पर (आहुत्याः) आहुति से (पुरस्तात्) पहले=आत्म बलिदान से पूर्व (ऊर्ध्वाः) ऊंचे, उच्चभाव के द्योतक (शुक्राः) शुद्ध, तेजस्वी, तेजोमय (स्वरवः) शब्द, घोष अथवा यज्ञस्तम्भ (मीयन्ते) नाप तोल कर बोले जाते हैं या विचार कर स्थापित किये जाते हैं। (सा) वह (वर्धमाना) बढ़ती, धनधान्यादि से उन्नति करती हुई (भूमिः) मातृभूमि (नः) हमें (वर्धयत्) बढ़ाए।

स्वतन्त्र देशों के लोग अपनी इच्छा से जब चाहें, उत्तम उत्तम कर्म्म, परोपकारमय यज्ञ कर लेते हैं। पराधीन देश के लोगों का भय के कारण आत्मा इतना हीन हो जाता है कि वे सत्कर्म्म करते घबराते हैं। स्वाधीन देश के लोग अपने राष्ट्र यज्ञ का स्वरू=यूप=यज्ञस्तम्भ=जातीय झंडा जहां तहां फहरा सकते हैं। पराधीन देशों का तो यूप ही नहीं होता। धन्य हैं वे देश, जहां के विद्वान् लोग उचित स्थानों से देश हित के उपयोगी हितकर यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं, जहां सारे संसार को उच्च स्वर से सुना कर, किसी से दबे विना, अपने देश के लाभ के अनुष्ठान, विना संकोच, किये जा सकते हैं। उस देश के लोग हर पहलू से उन्नत होते हैं। उनके शरीर, आत्मा, मन, समाज आदि का सुसमीचीन विकास होता रहता है।

शत्रुओं को वश करनेवाली

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्
योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) विशाल मातृभूमे ! (यः नः द्वेषत्) जो हम से द्वेष करता है (यः) जो (मनसा) मन से हम पर (पृतन्यात्) सेना लेकर चढ़ाई करता है (यः) जो (मनसा) मन से हमें (अभिदासात्) क्षीण करना चाहता है, दास बनाना चाहता है, (यः) जो (वधेन) वध से, कत्ल से, मारक हथियारों से, घातक शस्त्रों से दबाना चाहता है। हे (भूमे) मातृभूमे ! तू (पूर्वकृत्वरि) पूर्व से उपाय करनेवाली होकर (तं) उसको (नः) हमारे (रन्धय) वश में कर दे ।

दूसरों की स्वाधीनता हड़प करनेवाले नाना उपायों का अवलम्बन करते हैं। पहले किसी काल्पनिक या क्षुद्र कारण को लेकर झगड़ा कर लेते हैं, जब द्वेषाग्नि को अपने अनुकूल देखते हैं, तो फ़ौज लेकर आक्रमण कर देते हैं, फूट के बढ़ने से वे शान्ति–स्थापन के नाम से शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर उस देश के स्वाधीनचेता लोगों को यमसदन का पथिक बना देते हैं। इस प्रकार वह देश पराधीन हो जाता है। देशभक्त अपनी मातृभूमि से कहता है–हे मातृभूमे ! तुझपर पहले भी ऐसे संकट आ चुके हैं, जिन उपायों का तूने पहले उपयोग किया था, उन्हीं को अब भी काम में ला। अथवा—हे मातृभूमे ! तू ऐसा ढंग कर कि जिससे यह उपद्रव होने ही न पावें। और ऐसे उपद्रवकारी लोगों को हमारे वशीभूत कर अथवा हमारे अनुकूल कर। अर्थात् राष्ट्र का यह परम कर्त्तव्य है कि सब उपायों से राष्ट्र की स्वाधीनता, स्वतन्त्रता को स्थिर रक्खे, उसका अपहार न होने दे। स्वाधीनतानाशकों को वश में करे।

भूमि पर सब का अधिकार है

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्यः
उद्यन्त्सूर्य्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

हे (पृथिवि) पृथिवी ! (मर्त्याः) मरणधर्म्मा पदार्थ अथवा मनुष्य (त्वत्) तुझ से (जाताः) पैदा होते हैं और (त्वयि) तुझ में ही (चरन्ति) विचरते हैं, घूमते फिरते हैं, रहते हैं, निर्वाह करते हैं। (त्वं) तू (द्विपदः) दोपायों = दो पैर वाले मनुष्य (चतुष्पदः) चौपायों बन्दर आदि को (बिभर्षि) पालती पोसती है, धारण करती है। (येभ्यः मर्त्येभ्यः) जिन मनुष्यों के लिए (उद्यन् सूर्य्यः) उदय होता हुआ सूर्य्य (रश्मिभिः) किरणों के द्वारा (अमृतं) अमृत, अविनाशी, अखुट, जीवनप्रद (ज्योतिः) प्रकाश (आ + तनोति) भली प्रकार देता है, फैलाता है, (इमे) ये (पंच + मानवाः) पांचों मनुष्य जातिएं = गोरे, लाल, धूसर, पीले और काले अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद (तव) तेरे ही हैं।

आज इस युग में जब कि काले लोगों पर पृथिवी तंग की जा रही है, इस मन्त्र के प्रचार की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इस मन्त्र पर ध्यान दें, तो वैदिक धर्म्म की विशालहृदयता अपने पूर्णरूप में सामने दीखती है। पृथिवी सबकी है, इस पर रहने का सबका जन्मसिद्ध अधिकार है। जो इस पृथिवी पर पैदा हुआ है, उसे इस पर विचरने से रोकने का किसी को भी कोई अधिकार नहीं। सूर्य्य अपना प्रकाश अव्याहत गति से सब को दे रहा है, सूर्य्य प्रकाश से सब जीवनी शक्ति प्राप्त कर रहे हैं। इसी भांति पृथिवी से सबको समान रूप से लाभ उठाने का अधिकार है। यह पृथिवी तो पशु पक्षियों तक का भरण-पोषण करती है। मनुष्यों के लिए यह क्यों सकड़ी हो। अर्थात् यदि आततायी न हों, तो यह भूमि सबका भरण-पोषण करने में समर्थ है।

२

वाङ्माधुर्य

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा, वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥१६॥

(ताः) वे (समग्राः) सब—मनुष्य पशु पक्षी आदि (प्रजाः) प्रजाएं (नः) हमें (सं) मिलकर, इकट्ठे होकर (दुह्रतां) भरपूर करें, अर्थात् अपने शिल्प, विद्या, दुग्ध आदि विविध पदार्थों से हमें आप्यायित करें, और हे (पृथिवि) पृथिवी ! (वाचः मधु) वाणी का मिठास (मह्यं) मुझे (धेहि) दो ।

अथवा—(ताः प्रजाः) वे प्रजाएं (नः समग्राः वाचः सं दुह्रतां) हमारी सारी वाणियों को मिलकर दोहें अर्थात् हम सब को ज्ञान विज्ञान का उपदेश करें अथवा हम उन प्रजाओं को उनके कर्त्तव्य का बोध दें। और हे (पृथिवि) पृथिवी माता ! इस कार्य्य के लिए (मह्यं) मुझे (मधु) मिठास, मधुरता अथवा अन्न (धेहि) दे ।

अथवा—(ते नः समग्राः प्रजाः वाचः मधु सं दुह्रतां) वे हमारी सारी प्रजाएं वाणी के माधुर्य्य को मिलकर दोहें, अर्थात् सब में परस्पर प्रीति हो, और वह माधुर्य्य, हे (पृथिवि) पृथिवी माता ! (मह्यं धेहि) मुझे दे ।

जब मनुष्य यह निश्चय कर लें, कि पृथिवी पर सबका समान अधिकार है, सबको इस पर रहने तथा तज्जन्य पदार्थों के उपभोग करने का अधिकार है। तब पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष दूर हो जाएं, एक दूसरे से प्रीति उत्पन्न हो जाए और सब अपने को एक परिवार की भांति अनुभव करने लगें। फिर यह देशकृत भेदभाव मिट जाय यह पृथिवी एक नगर के समान हो जाय। जहां सब मनुष्य एक दूसरे का हित साधन करने वाले हों। हर एक की यही इच्छा हो, कि मैं जनसेवा करूं, लोकसेवा के लिए अपने आचार व्यवहार में मिठास पैदा करूं। सब मुझ से प्रीति करें। सबको मुझ से लाभ हो। यह मन्त्र वेद के राष्ट्रसिद्धान्त को बतला रहा है, वेद का राष्ट्र हदबन्दी = सीमाबन्धन से रहित है।

धर्म से धारित

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्म्मणा धृतम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥

(विश्वस्वं) सबको उत्पन्न करने वाली (ओषधीनां) ओषधियों, गुल्मों, लताओं, वितानों, विटपों, वृक्षों आदि की (मातरं) माता (ध्रुवां) दृढ़, नाश रहित, विचलित न होने वाली (पृथिवीं) विस्तृत, विशाल (धर्म्मणा धृतां) धर्म्म से धारी हुई (शिवां) कल्याणी तथा (स्योनां) सुख देने वाली (भूमिं) भूमि पर (विश्वहा) सब दिन, सदा (अनु + चरेम) अनुकूलता से विचरण करें ।

मनुष्य के लिए जो कुछ चाहिए, वह सब पृथिवी पैदा करती रहती है । पृथिवी का धारण = राष्ट्र का धारण = संसार की शांति 'धर्म्म' ही से हो सकती है । 'धर्म्म' का अर्थ मज़हब, मत, पन्थ या Religion नहीं, अपितु 'धारण करने वाले नियम [प्रथम मन्त्र में इनका निर्देश है] हैं, धर्म्म शब्द का भाषान्तर नहीं हो सकता है, इस शब्द में कितना स्वारस्य है, इस पर तो वेद में दोष ही दोष देखने वाले ह्विटने तथा लैन-मान पण्डितों की लेखनी से भी अगत्या यह वाक्य निकल गया है— "There is a play of words in धर्म्मणा धृताम्, which cannot be easily reproduced in translation". अर्थात् 'धर्म्मणा धृतां' पदों में एक ऐसा स्वारस्य है, जो अनुवाद में नहीं लाया जा सकता । 'सचमुच' 'धर्म्म' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है । जिस देश के वासी रात को भूखे सोते हों, निर्वस्त्र हों, गृह-विहीन हों, समझ लो, वहां धर्म्म नहीं, वह भूमि 'धर्म्मणा धृता' नहीं है । जहां बालमृत्युओं की संख्या अधिक हो, महामारी, विषूचिका, राजयक्ष्मा, क्षय आदि रोगों ने घर कर रक्खा हो, जहां शिक्षा का अभाव हो, जहां अल्पायु के बालकों को भी उदरदरी पूर्ण करने के लिए शरीर तोड़ परिश्रम करना पड़ता हो, समझ लो, वहां धर्म्म नहीं रहा । वह भूमि 'धर्म्मणा धृता' नहीं है ।

महान् सधस्थ

महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे ।
महाँस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् सानो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव ।
संदृशि मानो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

हे (भूमे) मातृभूमे ! तू (महत्) बड़ा (सधस्थं) इकट्ठा एक साथ रहने का स्थान है, अतएव तू (महती) बड़ी अथवा पूजनीय (बभूविथ) है । (ते) तेरा (वेगः) वेग (एजथुः) गति तथा (वेपथुः) कंपन (महान्) महान् है, और (महान्) महिमासंपन्न, महत्वशाली (इन्द्रः) सूर्य्य, परमात्मा अथवा ऐश्वर्य्यसंपन्न शूरवीर राजा (अप्रमादं) प्रमाद रहित होकर, सावधानता से, होशियारी से (त्वा) तेरी (रक्षति) रक्षा करता है । (सा) ऐसी तू भूमि (हिरण्यस्य) सुवर्ण या प्रकाश के (संदृशि) दर्शन की, चमक की (इव) भांति (नः) हमें (प्ररोचय) उत्तम रीति से चमका, प्रवृत्त कर, ताकि (कश्चन) कोई (नः) हमसे (मा द्विक्षत) द्वेष न करे ।

भूमि बहुत विशाल है, यह प्राणियों के इकट्ठा रहने का एक बड़ा स्थान है, अर्थात् यह एक घर है । इन शब्दों का तात्पर्य बहुत गंभीर है, यह शब्द संकीर्ण दैशिक सीमा से उठा कर मनुष्यमात्र ही को नहीं, सारे प्राणियों को बन्धुत्व के प्रेमपूर्ण सूत्र में बांधता है, जब तक भिन्न दैशिक सीमा रहेंगी, तबतक मनुष्यों में सदा कलह और उपद्रव बना रहेगा । पृथिवी आकाश में बहुत तीव्र वेग से घूम रही है, किन्तु बलशाली सूर्य्य इसे व्यवस्था में रख कर इसे गिरने से बचाता रहता है । भिन्न स्वभाव तथा परस्पर रुचिवैचित्र्य के कारण देश में अनेक उपद्रव होते रहते हैं, किन्तु शक्तिशाली नेता उन सारे उपद्रवों को शान्त कर व्यवस्था स्थिर रखता है । मनुष्य ज्ञान, बल, पराक्रम, परहितकारिता आदि सद्गुणों के कारण तेजस्वी बनता है, ऐसे तेजस्वी, वर्चस्वी, धार्मिक मनुष्य से कोई भी द्वेष नहीं करता, सब का प्रीतिपात्र बना रहता है ।

अग्निवासा भूमि

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो विभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥
अग्निर्दिव आतपत्यग्ने र्देवस्योर्वन्तरिक्षम् ।
अग्निं मर्त्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥
अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषिमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥२१॥

(भूम्यां) भूमि में (अग्निः) आग है, (ओषधीषु) ओषधियों में आग है, (आपः) जल (अग्निं) अग्नि को, बिजुली के रूप में (बिभ्रति) धारण करते हैं (अश्मसु) पत्थरों में चकमाक आदिक में (अग्निः) आग है, (पुरुषेषु अन्तः) पुरुषों के अन्दर, जाठराग्नि के रूप में, जीवनी शक्ति के रूप में (अग्निः) आग है, (गोषु) गौओं में तथा (अश्वेषु) घोड़ों में (अग्नयः) अग्निएं हैं ॥ १९ ॥ (अग्निः) सूर्य्य रूपी अग्नि (दिवः) द्यौ लोक से, [पृथिवी को] (आतपति) सब ओर से तपाता है, (उरु) विशाल अन्तरिक्ष भी (देवस्य) दिव्य तेजस्वी (अग्नेः) अग्नि का है। (मर्त्तासः) मनुष्य भी (हव्यवाहं) हव्य = हवन के योग्य अथवा लेने देने, खाने खिलाने योग्य पदार्थों को इधर उधर ले जाने वाले (घृतप्रियं) घृतप्रिय घी से पुष्ट होने वाले (अग्निं) अग्नि को (इन्धते) प्रकाशित करते हैं, प्रदीप्त करते हैं, जलाते हैं ॥ २० ॥ यह (पृथिवी) पृथिवी (अग्निवासाः) अग्निरूप वस्त्र वाली है, (असितज्ञूः) बन्धन रहित अग्नि का ज्ञान कराने वाली यह पृथिवी (मा) मुझको (त्विषिमन्तं) तेजस्वी तथा (संशितं) तीव्र (कृणोतु) करे ॥ २१ ॥

संसार की कोई ऐसी वस्तु नहीं, जहां अग्नि न हो । पृथिवी के अन्दर आग मौजूद है, जिसके विषम होने के कारण ज्वालामुखी पर्वत फटा करते हैं, भयंकर भूकंप आते हैं । हरी हरी ओषधियों में भी अग्नि वर्त्तमान है, तथा रगड़ से गर्मी प्रतीत होती है । जल में तो अग्नि की सत्ता के विषय

में कोई शंका ही नहीं हो सकती, जलों के रूपान्तर बादलों में बिजली के रूप में अग्नि है ही, साधारण जलों में भी आग वर्त्तमान है, तभी तो आज स्थान स्थान पर जल से बिजली पैदा करके संसार के अनेक कार्य्य सिद्ध किए जा रहे हैं। प्राणियों में अन्नपचन आदि क्रियाएं अग्नि की सत्ता का साक्ष्य दे रही हैं। द्यौलोक में खड़ा सूर्य्य भूमि को तपा रहा है। इस विशाल अन्तरिक्ष में बिजली भर रही है। अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार मनुष्य इस अग्नि को प्रकट करते हैं और उपयोग लेते हैं। सार यह है कि यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड अग्निमय है, यह अग्नि सब पदार्थों में रहता हुआ भी बन्धन रहित है। आजतक अग्नि को कोई बांध नहीं सका, उसके स्वाभाविक गुण से उसे कोई वंचित नहीं कर का। इसी अग्नि के तेज से यह पृथिवी रत्नगर्भा होती है। अग्नि न हो तो यह सारा विश्वब्रह्माण्ड, निस्तेज और क्षीण होकर छिन्न-भिन्न हो जाए। अतः जो मनुष्य तेजस्वी बनना चाहता है, वह इस रहस्य को समझे और आग्नेय तत्व को अपने शरीर में स्थिर रखने तथा उत्तरोत्तर बढ़ाने का सतत प्रयत्न करे, तभी वह अपनी तथा मातृभूमि की स्वतन्त्रता स्थिर रख सकेगा, अन्यथा नहीं। इस गुह्य सिद्धान्त का पृथिवी, यही हमारी स्थूल पृथिवी खुला प्रकाश कर रही है।

ह्विटने आदि पाश्चात्य पण्डितपुंगव इन मन्त्रों को असंलग्न बताते हैं। किन्तु यह उनका द्वेषमूलक, अज्ञानजन्य भ्रम ही है। १८ वें मन्त्र में इन्द्र को पृथिवी का रक्षक बतलाया है, भौतिक जगत् में इन्द्र सूर्य्य है, सूर्य्य अग्नि के अतिरिक्त है ही क्या ? वह किस प्रकार से पृथिवी की रक्षा करता है, इस बात को समझाने के लिए इन तीन मन्त्रों की रचना हुई है। तीसरे = २१ वें में अग्निवासाः शब्द आया है, उसका अर्थ है अग्निरूप वस्त्रवाली, अर्थात् आग जिसका ओढ़ना है। पृथिवी अग्निगर्भा तथा अग्निवासा होने के कारण तेजस्विनी तथा रत्नप्रसवित्री हुई है, इस रहस्य को मनुष्य भी समझ लें। अतः असंलग्नता की चर्चा व्यर्थ प्रलाप है।

हव्यदात्री भूमि

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरङ्कृतम् ।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु
जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥

(भूम्यां) इस भूमि पर ही मनुष्य (देवेभ्यः) देवों को, प्रकाशमान पदार्थों को, परोपकारी जीवों को (यज्ञं) यज्ञ और (अरङ्कृतं) अलंकृत, सजाया हुआ (हव्यं) हव्य, चरु, भोग्य वस्तु (ददति) देते हैं । (भूम्यां) भूमि पर ही (मनुष्याः) मनुष्य जीते हैं, यहीं (मर्त्याः) मरणधर्म्मा प्राणी (स्वधया) अपनी धारणशक्ति से तथा (अन्नेन) अन्न के द्वारा जीते हैं (सा भूमिः) इस प्रकार की सर्वाश्रया, यज्ञिया भूमि (नः) हमें (प्राणं) जीवनशक्ति तथा (आयुः) दीर्घ आयु (दधातु) देवे । (पृथिवी) पृथिवी (मा) मुझ को (जरदष्टिं) बुढ़ापा भोगने वाला (कृणोतु) करे ।

जो मनुष्य भूमि के महत्व को, पृथिवी की महिमा को नहीं समझते, उन्हें इस मन्त्र में बड़े स्पष्ट, सरल शब्दों में भूमि का माहात्म्य समझाया गया है । यज्ञादि परोपकारमय कार्य्य यदि कहीं किए जा सकते हैं, तो इसी भूमी पर, मनुष्य तथा अन्य प्राणी अपनी जीवनयात्रा चलाने के लिए यदि अन्नादि आवश्यक सामग्री पाते हैं, तो इसी पृथिवी से । इस वास्ते इस पृथिवी की यत्न से रक्षा करनी चाहिए, ताकि हम सुखपूर्वक जी सकें । अरक्षित अथवा अन्यरक्षित भूमि में प्राणों का सदा संशय रहता है । रोग, महामारी के कारण मनुष्यादि प्राणी अकाल में ही काल के कराल गाल में चले जाते हैं । वृद्धावस्था का उपभोग तो एक स्वप्न सा हो जाता है । युवावस्था के घोर परिश्रम के पश्चात् विश्राम का समय तो किसी भाग्यवान् ही को मिलता है । परमात्मा करे, सब स्वतन्त्र होकर इसका उपभोग करें ।

गन्धवती पृथिवी

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव
यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे
तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥
यस्त गन्धः पुष्करमाविवेश
यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे
तेन मा सुरभि कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २४ ॥
यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।
कन्यायां वर्चो यद्भूमे तेनास्मां अपि
संसृज मानो द्विक्षत कश्चन ॥ २५ ॥

हे (पृथिवि) पृथिवि ! (यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध = बू (संबभूव) तेरे साथ उत्पन्न हुआ है, अर्थात् सहज स्वाभाविक गुण है, (यं) जिसको (ओषधयः) ओषधिएं (बिभ्रति) धारण करती हैं और (यं) जिसको (आपः) जल धारण करते हैं, (यं) जिसको (गन्धर्वा) गाने बजाने वाले, पुरुष (च) और (अप्सरसः) विलासिनी स्त्रिएं (भेजिरे) सेवन करती हैं। (तेन) उस गन्ध से (मा) मुझ को (सुरभिं) सुगन्धित (कृणु) कर, ताकि (कश्चन) कोई भी (नः) हम से (मा द्विक्षत) द्वेष न करे ॥ २३ ॥

(यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध (पुष्करं) कमल में (आ विवेश) प्रविष्ट है और (यं) जिसको हे (पृथिवि) पृथिवी ! (अग्रे) पहले (सूर्यायाः विवाहे) सूर्या के विवाह = उषा काल के प्रकट होने पर (अमर्त्याः) वायु आदि अमर शक्तियों ने (सं जभ्रुः) भली

प्रकार हरण किया अथवा धारण किया, (तेन मा सुरभिं कृणु) उससे मुझे सुगन्धित कर, ताकि (कश्चन नः मा द्विक्षत) कोई हम से द्वेष न करे ॥२४॥

(यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध (पुरुषेषु) पुरुषों में है और जिसके कारण (स्त्रीषु) स्त्रियों में (भगः) शोभा तथा (पुंसु) पुरुषों में (रुचिः) कान्ति तथा तेज है, (यः) जो गन्ध (अश्वेषु) अश्वों में (वीरेषु) वीरों में (उत) और (यः) जो (मृगेषु) मृगों और (हस्तिषु) हस्तियों में है। और (यत्) जो (वर्चः) तेज (कन्यायां) कुमारी कन्या में है, हे (भूमे) भूमे ! (तेन) उससे (अस्मान्) हमें (अपि) भी (सं सृज) युक्त कर, ताकि (कश्चन नः मा द्विक्षत) कोई हम से द्वेष न करे ॥ २५ ॥

वेद का नियम है कि प्रकृत विषय के साथ अन्य अनेक उपयोगी पदार्थों का आनुषङ्गिक रीति से बोध कराता है। २३ वें मन्त्र में गन्ध को पृथिवी का स्वाभाविक गुण बतलाया है, दार्शनिकों का 'गन्धवती पृथिवी' उतना गंभीर नहीं, जितना 'यस्ते गन्धः संबभूव' है। संबभूव = साथ हुआ है, अर्थात् जब से पृथिवी है, तब से गन्ध है, पृथिवी और गन्ध का समवायसंबन्ध है। अन्य पदार्थों में जो गन्ध है, वह सब पृथिवी का है, पृथिवी के संसर्ग से उन में गन्ध की प्रतीति होती है। इस बात को सुन्दर शब्दों में इन मन्त्रों में बताया है। वायु का एक नाम 'गन्धवाह' है, किन्तु केवल वायु ही गन्धवाह नहीं है, इसको समझाने के लिए 'यं—अग्रे' कहा है। प्रातःकाल की वायु को 'मन्द सुगन्ध समीर' कहते ही हैं। वायु तो पुष्पों से गन्ध लेता है, वेद कहता है कि वह भी पृथिवी का ही है, पुष्पराज पुष्कर भी गन्ध के लिए पृथिवी का ऋणी है। स्त्री, पुरुषों, कन्या आदि में अपने अपने ढंग की एक विशेष शोभा, कान्ति, दीप्ति होती है, उसका कारण भी अग्निवासा गन्धवती पृथिवी है। जिस प्रकार वह गन्ध प्रत्येक स्वस्थ प्राणी के लिये सुखदायी है, वैसे ही मनुष्य भी सबके लिए सुखदायी बने, ताकि उससे कोई अप्रीति न करे।

मिट्टी से सोना

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥

(शिला) चट्टान, (अश्मा) पत्थर और (पांसुः) धूलि यही सब तो (भूमिः) पृथिवी है (सा) वह इस प्रकार की (भूमिः) भूमि (संधृता) एकता पूर्वक धारण की हुई ही (धृता) धारण की जा सकती है । (तस्यै) उस (हिरण्यवक्षसे) हिरण्यवक्षा = सोना आदि धातुएं जिसकी छाती में हैं उस (पृथिव्यै) पृथिवी को मैं (नमः) नमस्कार (अकरं) करता हूँ ।

भूमि क्या है ? चट्टान, पत्थर और धूल ही ना । किन्तु रचनाविशेष से इन पदार्थों के विशेष रूप से समीकरण करने से—यह ठहरी है । ठहरी ही नहीं, यह हिरण्यवक्षा बन गई है, सोना उगलती है, सोना ! तुच्छ धूलि, कठोर पत्थर, उनकी बनी पृथिवी उगलती है सोना ! यह सामर्थ्य उसमें कहां से आया, संधारण से । इसी सोना उगलने के कारण यह धूलिमय पृथिवी नमस्कार के योग्य हुई है, आदर की पात्र बनी है । धूलि समझ कर इस पृथिवी का निरादर मत करो, इसके पेट में सोना है । इसे समझो और प्राप्त करो । जिस प्रकार यह धूलि आदि की बनी पृथिवी सोना उगलने में समर्थ हुई है, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी इकट्ठे हों, संघधर्म का पालन करें, तो वे क्या नहीं बन सकते । वेद के समझाने की पद्धति कितनी निराली है, कितनी मनोहारिणी है । पृथिवी को जब मां कह दिया, तो नमस्कार में क्या हर्ज ? यह जड़पूजा नहीं । यह तो देशभक्ति की दिव्य तरंग है ।

विश्वधाया भूमि

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ २७ ॥

(यस्यां) जिस भूमि पर (वानस्पत्याः) वनस्पतिएं, अथवा वनस्पतियों के उपयोगी पदार्थ तथा (वृक्षाः) वृक्ष (विश्वहा) सब दिन (ध्रुवाः) दृढ़ अचल (तिष्ठन्ति) खड़े रहते हैं, उस (विश्वधायसं) सब का पोषण करने वाली, सब को धारण करने वाली और स्वयं वीरों से (धृता) पालित (पृथिवीं) पृथिवी के विषय में (अच्छ) अच्छा (वदामसि) कहें ।

वृक्षों और वनस्पतियों से हमारे नाना कार्य्य सधते हैं, उन वृक्षों का आश्रय भी तो यही पृथिवी है । सब दिन इसी पृथिवी से अपना भोजन प्राप्त कर वे अचल बने रहते हैं । पृथिवी सब का पालन करती है, सब को आश्रय देती है, किन्तु तभी, जब इसकी भली प्रकार पालना की जाए । चोर, डाकू, आततायी, अत्याचारी लोगों को इससे दूर रक्खा जाए । वीर लोग अपने प्राणों का प्रण (बाज़ी) लगाकर इसकी रक्षा में तत्पर रहें । बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के उत्पातों से सदा इसे बचाया जाए । इस प्रकार के शान्तिपूर्ण, सुखसमृद्धिसंपन्न, राष्ट्र का अपवाद नहीं करना चाहिये । ऐसे राष्ट्र तो स्तुति के योग्य होते हैं, उनकी भरपूर प्रशंसा करनी चाहिए । किन्तु समृद्ध एवं संपन्न राष्ट्रों की स्तुति से तो कार्य्य नहीं चलेगा, आपको भी अपना राष्ट्र वैसा बनाना होगा, जिसमें खूब विशाल जंगल हों, जहां के खेत लहलहाते हों, जिसके सब प्राणी सन्तुष्ट और पुष्ट हों, कोई भूखा न सोता हो । जहां कोई भूखा सोता हो, उस राष्ट्र को 'विश्वधाय' कौन कहेगा ?

निष्कण्टक भूमि

उदीराणा उदासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥

(उत्-ईराणाः) ऊपर उठते हुए, घूमते हुए (उत्) और (आसीनाः) बैठते हुए (तिष्ठन्तः) खड़े होते हुए (दक्षिणसव्याभ्यां) दाहिने और बाएं (पद्भ्यां) पैरों से (प्रक्रामन्तः) चलते फिरते हम (भूम्यां) इस भूमि पर (मा) न (व्यथिष्महि) तकलीफ़ पावें ।

पराधीन देश के वासी स्वेच्छापूर्वक कहीं भी घूम नहीं सकते, किसी स्थान पर सुखपूर्वक खड़े होने का अधिकार नहीं रखते, वे अपने घर में भी चैन से बैठ भी नहीं सकते । उनका जीवन सदा संशय से ग्रस्त रहता है । सन्देह के कारण आज़ादी से वे कहीं आ जा भी नहीं सकते । उसके मुकाबले में आज़ाद = स्वतन्त्र = स्वाधीन देश के लोग अपने ही देश में नहीं, अपितु समस्त संसार में स्वच्छन्द विचरते हैं । उनकी ओर कोई आंख उठाकर भी देखने का साहस नहीं कर सकता । सर्वत्र उसके शरीरादि की रक्षा के लिये प्रबन्ध किया जाता है । स्वतन्त्र देश का वासी अपने ऊपर किसी अनुचित बन्धन की, अपने मार्ग में किसी रुकावट की कल्पना भी नहीं कर सकता । स्वतन्त्र देश के वासियों के तो पैरों को भी चोट से बचाने का प्रबन्ध होता है, सुन्दर, प्रशस्त, कंटक रहित, चौड़े राजमार्ग होते हैं, भव्य यानों का प्रबन्ध होता है । यातायात की उत्तम व्यवस्था होती है । स्वराज्य की कितनी उत्कृष्ट कल्पना है, कि मनुष्य के पैरों तक को क्लेश न हो । ऐसे स्वराज्य से संपन्न देश ही स्वर्ग हैं, उसके अतिरिक्त और कोई स्वर्ग नहीं । परमात्मा करे सारी मानव जाति इस अनुपम स्वर्गीय स्वराज्य का उपभोग सदा कर सके ।

पवित्र करने वाली

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि निषीदेम भूमे ॥ २९ ॥

(विमृग्वरीं) नाना प्रकार के पदार्थों के खोजने के योग्य अथवा अनेक प्रकार से पवित्र करने वाली (क्षमां) सब को निवास देने में समर्थ (ब्रह्मणा) ब्रह्म से = परमेश्वर से, ज्ञानियों से, तपस्वियों से (वावृधानां) सदा वृद्धि को प्राप्त करने वाली, लगातार उन्नत होने वाली (पृथिवीं) विशाल, विस्तीर्ण (भूमिं) सब कुछ उपजाने वाली, सब को आश्रय देने वाली मातृभूमि से मैं (आ) भली प्रकार (वदामि) कहता हूँ कि हे (भूमे) सर्वभूताश्रये मातृभूमे ! (उर्ज्जं) पराक्रम, (पुष्टं) पुष्टि, शक्ति (अन्नभागं) सेवन करने योग्य उत्तम-उत्तम अन्नों को तथा (घृतं) तेज बढ़ाने वाले घी आदि पदार्थों को (बिभ्रतीं) धारण करने वाली (त्वा) तुझ पर हम (अभि) सब ओर (निषीदेम) निवास करें ।

किसी पराधीन देश की अवस्था को ध्यान से जाकर देखिए, वहां अत्यन्त अल्पसंख्यक लोगों को छोड़ कर घी दूध की तो बात जाने दीजिए, अन्न = उत्तम अन्न भी खाने को नहीं मिलता । कोदों आदि से भी वे अपनी उदरदरी को पूर्ण नहीं कर पाते । अन्नाभाव से भड़की हुई उनके पेट की ज्वाला उनको ही भस्म कर देती है । जब अन्न ही नहीं मिलता, तो शरीरादि के स्वच्छ रखने तथा आत्मज्ञान प्राप्त करने का अवसर कहां से मिल सकता है । स्वाधीन देश तो चमत्कारपूर्ण देश होते हैं, वहां की भूमि में उपजाऊ शक्ति तथा भरण-पोषण की शक्ति असीम होती है, उस देश की बढ़ती जनसंख्या के लिए काफ़ी स्थान मिल जाता है । वहां ज्ञान-विज्ञान की उन्नति होती रहती है । सांसारिक चिन्ता से निर्मुक्त होने के कारण वहां के वासी आत्मज्ञान ध्यानादि की चर्चा भी खूब करते हैं ।

मलनाशिका

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु
यो नः स्येदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि ॥ ३० ॥

(नः) हमारे शरीर के लिए (शुद्धाः) पवित्र, नीरोगताकारक (आपः) जल (क्षरन्तु) बहें । (यः) जो (नः) हमारा (स्येदुः) मल अथवा कष्ट या कष्ट देने वाला है, (तं) उसको तेरे (अप्रिये) प्रेम न करने वाले, उपेक्षा करने वाले शत्रु पर (नि) सर्वथा (दध्मः) डालते हैं । (पृथिवि) हे विशाल मातृभूमे ! (पवित्रेण) पवित्राचार से, शुद्ध व्यवहार से, प्रशस्त मन्त्रों से, पुनीत जल से तथा सुखद वायु से (मा) अपने आपको (उत्-पुनामि) उत्तम रीति से पवित्र करता हूँ ।

स्वाधीन देश के वासियों की एक उत्कृष्ट भावना का इस मन्त्र में दिग्दर्शन कराया गया है । स्वतन्त्र देशवासी कभी भी, किसी अवस्था में भी देशद्रोही को पसन्द न करेंगे । देशद्रोही पर सब प्रकार की आपद्-विपद् डालने का प्रयत्न करते हैं । वे अपने देशवासी से आशा रखते हैं, कि वे अपने आचार व्यवहार आदि क्रियाकलाप में सर्वथा शुद्ध हों, कोई छल छिद्र कपट आदि का वर्त्ताव उनमें न आने पावे । क्योंकि छल कपट से देशवासियों का आचार नीचे गिरता है, संसार के दूसरे देशों में उनकी साख गिरती है और स्वयं उनमें नाना प्रकार की दुर्बलताएं आकर उनकी स्वाधीनता के नाश का कारण बनती हैं । इस वास्ते स्वाधीनता प्राप्त करने के इच्छुकों तथा उसे प्राप्त करके स्थिर रखने के अभिलाषियों का परम कर्तव्य है, कि वे अपने आचार व्यवहार में पवित्रता का विशेष ध्यान रक्खें ।

———

सर्वत्र अभय

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर् यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ।। ३१ ।।

(भूमे) मातृभूमे ! (याः) जो (ते) तेरे (प्राचीः) पूर्व दिशा में, अथवा सामने के (प्रदिशः) प्रदेश हैं और (याः) जो (उदीचीः) उत्तर दिशा में अथवा ऊंचे प्रदेश हैं और (याः) जो (ते) तेरे (अधरात्) अधो दिशा में = दक्षिण दिशा में या निचले प्रदेश हैं (च) और (याः) जो (पश्चात्) पश्चिम दिशा में या पीछे की ओर के भूभाग हैं (ताः) वे सब (मह्यं) मुझ (चरते) भूमि पर विचरण करने वाले के लिए, पुरुषार्थी के लिए (स्योनाः) सुखदायी (भवन्तु) होवें । (भुवने) संसार में (शिश्रियाणः) निरन्तर आश्रय लेने वाला मैं (मा) न (नि+पप्तं) नीचे गिरूं ।

जो मनुष्य पुरुषार्थी होता है, आलस्य प्रमाद आदि दोष जिसे छू नहीं गए, उस महोद्योगी, पराक्रमी वीर के लिए समस्त भूमण्डल में कहीं भी कोई बाधा नहीं होती । समस्त संसार के लोग उसकी सुख-सुविधा के संपादन करने में गौरव मानते हैं । भूमण्डल की प्रत्येक वस्तु उसको सुखी करने में मानो अपनी सार्थकता मानती है । ऐसे स्वाधीन मनुष्य का संसार में कहीं भी पतन नहीं होता, कहीं अपमान या अवहेलना नहीं हो सकती । विश्वब्रह्माण्ड मानो प्रेम से उसे आश्रय दे रहा है । किन्तु जो पराधीन है, परतन्त्रता के पाश में बद्ध है, गुलामी का दो-धारा खांडा जिसके सिर पर लटक रहा है, उसके लिए यह सकल सुखदायिनी मातृभूमि भी दुःख की खानि बन जाती है । वह तो अपने को अपंग पाता है, उसे तो पग पग पर पतन की आशङ्का बनी रहती है, अपना घर भी उसके लिए कारागृह = जेलखाना सा होता है । वह "मा नि पप्तं ...... णः" कैसे कह सकता है ?

शत्रु न दीखें

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्
परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥

हे (भूमे) भूमे ! (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से तू (मा) न (नुदिष्ठाः) धकेल, (मा) ना ही (पुरस्तात्) सामने से, (मा) ना ही (उत्तरात्) उत्तर से अथवा ऊंचे स्थान से (उत) और ना ही (अधरात्) नीचे से हमें धकेल। हे भूमे ! तू (नः) हमारे लिए (स्वस्ति) सुखदायिनी (भव) हो, (परिपन्थिनः) लुटेरे, डाकू, चोर आदि हमें कहीं भी (मा) न (विदन्) मिलें। उनके (वरीयः) श्रेष्ठ, प्रबल (वधं) मारक शस्त्रास्त्रों को (यावय) दूर कर।

जहां स्व-राज्य = अपना राज्य होता है, वहां मनुष्य को—उस राष्ट्र-वासी—को धक्के नहीं मिला करते। जैसे मनुष्य अपने घर में बेखटके रहता है, वैसे ही वह स्वराज्य-संपन्न राष्ट्र में भी निर्द्वन्द्व घूमता है। केवल स्वदेश में ही वह निर्बाध नहीं होता, अपितु सारी भूमि में उसका अव्याहत विचरण होता है। पृथिवी उसके लिए मानो स्वस्ति का पाठ कर रही होती है। वह कहीं भी फिरे, उसे चोर, डाकू, उचक्के से किसी प्रकार का भय नहीं होता। दूसरे राष्ट्र के अधिकारियों को भी उसके प्राणों की रक्षा का ध्यान रखना पड़ता है। इस वास्ते उसे किसी प्रकार के आक्रमण का भी भय नहीं रहता। धन्य हैं वे मनुष्य ! जिन्हें ऐसी सुविधा है। जीना तो इन्हीं का जीना है, शेष तो मृतक समान ही हैं। पराधीनता के जीवन से तो मृत्यु कहीं अच्छी है।

मेरी दृष्टि क्षीण न हो

यावत्तेऽभिविपश्यामि भूमे सूर्य्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम्॥ ३३॥

हे (भूमे) भूमे! (मेदिना) स्नेहवर्षा करने वाले, आनन्द देने वाले, आकर्षण द्वारा पृथिवी से सदा संगत (सूर्य्येण) सूर्य्य से, (यावत्) जहां तक, जब तक (ते) तेरे दृश्यों को मैं (अभि) चारों ओर (वि) विशेष रीति से, विविध प्रकार से (पश्यामि) देखता हूँ, (तावत्) वहां तक, तब तक (मे चक्षुः) मेरी देखने की शक्ति (उत्तरां-उत्तरां) आगे आने वाले (समां) वर्षों में (मा मेष्ट) नष्ट न हो, क्षीण न हो।

मनुष्य के रहने योग्य देश वही हो सकता है, जहां सूर्य्य का प्रचण्ड प्रकाश हो। सूर्य्य के कारण वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्राणिमात्र को जीवन मिलता है। इस मन्त्र में एक सूक्ष्म संकेत किया है, आंख हो, किन्तु सूर्य्य न हो, तो देखने की क्रिया हो ही नहीं सकती। सूर्य्य हो किन्तु आंख न हो, तब भी दिखाई नहीं देता। मनुष्य को सुनने, छूने आदि से इतना निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता, जितना देखने से। इसी वास्ते उत्तरार्ध में आंखों के नष्ट न होने की, सदा बने रहने की अभिलाषा की गई है। आंखों की यह शक्ति सूर्य्य के सम्बन्ध से तथा भूमि के उपजे उत्तम पदार्थों के सेवन तथा पृथिवी पर के मनोभावन, सुन्दर दृश्य के देखने से आती है। पराधीन देश में तो प्राकृत दृश्यों को देखने की भी स्वतन्त्रता नहीं होती। वहां आंख की ज्योति क्योंकर बढ़ेगी। परतन्त्र देशों में बढ़ा हुआ दृष्टि दोष [नयनक सेवन द्वारा] पुकार पुकार कर परतन्त्रता के भयङ्कर परिणाम सुझा रहा है। प्रभो! कोई भी पराधीन न हो।

———

सुख की नींद सुलाने वाली

यच्छयानः पर्य्यावर्त्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरधिशेमहि ॥
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरी ॥ ३४ ॥

(यत्) जब हे (भूमे) मातृभूमे (शयानः) सोता हुआ मैं (दक्षिणं सव्यं पार्श्वं अभि) दाहिने बाजू से बाएं और बाएं से दाहिने पहलू (परि आ वर्त्ते) करवट लूं, और (यत्) जब हम सब (त्वा) तुझ को (प्रतीचीं) पीछे की तरफ़ = पीठ की ओर करके (उत्तानः) ऊपर मुख किए हुए (पृष्टीभिः) पीठ के बल तुझ पर (अधिशेमहि) सोएं, तो हे (सर्वस्य प्रतिशीवरि) सबको सुलाने वाली, सोने का स्थान देने वाली (भूमे) भूमिमातः ! (तत्र) उस अवस्था में (नः) हमें (मा हिंसी) न मार, क्लेश न पहुंचा ।

पराधीन देश के रहने वाले सुखपूर्वक सो भी नहीं सकते, उन्हें तो करवट लेते भी भय बना रहता है । पृथिवी पर सोना तो मानो मां की गोद में सोना है, मां की गोद तो सबसे निरापद्, निर्भय स्थान है, किन्तु परतन्त्र मनुष्य को तो वहां भी कल नहीं पड़ती, उसे तो वहां भी भय घेरे रहता है । ज़रा गंभीरता से विचार किया जाय, तो मन्त्र यह कहता प्रतीत होता है, कि पराधीनता के पाश में जकड़ा हुआ दीन हीन अपनी मां को मां कहने का सामर्थ्य नहीं रखता । भला, जो अपनी माता की रक्षा नहीं कर सका, जिसके देखते देखते मां को शत्रुओं ने दासता के पाशों से जकड़ लिया, वह मां को मां कहने का अधिकारी कैसे हो सकता है । ऐसी गई बीती सन्तान को मां का सुख क्या मिलने लगा । उसको तो माता भूमिमाता से क्लेश और कष्ट ही पहुंचता है सच है—पराधीन सपनेहु सुख नाहीं । इसके विपरीत जो स्वाधीन हैं, जिनका सब कुछ स्वायत्त है, वे तो सदा बेखटके रहते हैं, वे चाहे पलंग

पर सोएं या भूमि पर लेटें, उन्हें किसी उपद्रव की आशङ्का ही नहीं हो सकती। भगवान् सारे मानवसमुदाय को ऐसी सर्वसुखदात्री स्वाधीनता प्रदान करें।

मर्मरक्षण

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥ ३५॥

हे (भूमे) सबका उत्पत्ति स्थान मातृभूमे! (ते) तेरा (यत्) जो (वि+खनामि) उखाड़ता हूँ, (तत्) वह (क्षिप्रं) शीघ्र (अपि) ही (रोहतु) उग आवे। हे (विमृग्वरि) विशेष शोधन करने वाली, विविध प्रकार के अनुसन्धानों का आधारभूत भूमे! मैं (ते) तेरे (मर्म) मर्म स्थान को (मा) न (अर्पिपम्) नाश करूं और (मा) ना ही (ते हृदयम्) तेरे हृदय को दुखी करूं।

भूमि में नाना प्रकार की ओषधियां आदि उत्पन्न होती हैं, मनुष्य उनका उपयोग लेने के लिए उखाड़ता है। उस उखाड़ने में बड़ा भेद है जिसका देश अपना नहीं है, जिसे उस भूमि के साथ ममता नहीं है, वह तो प्रायः ओषधि, वृक्ष आदि उखाड़ते हुए उस देश को उजाड़ने का प्रयत्न करेगा। उसका तो लाभ इसी में है, कि पराधीन देश सर्वथा उजाड़ हो जाए, प्रत्येक वस्तु के लिए उसका मुख देखे, तभी उसकी सत्ता वहां दृढ़ रहेगी। वह जब पहाड़ के जंगलों से मकान की लकड़ी कटवाएगा तो छोटे बड़े वृक्ष का विचार न करेगा। भले ही उसके इस कृत्य के फलस्वरूप देश में अनावृष्टि आदि ही क्यों न हो। विजेता तो पराधीन देश के जंगल आदि कटाएगा ही, क्योंकि उसे भय है, कि कहीं देशभक्त इसमें छिप कर न रहते हों। वह तो इसको इस प्रकार काटेगा कि यह फिर न उगे। इसके विरुद्ध–जिसका जहां ममत्व है, स्नेह

है, जो जिस देश को अपना समझता है, वह उसकी प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता को समझता है, वह अपने देश की भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने का यत्न करता है, वह किसी वस्तु को जड़ मूल से नाश नहीं करेगा। किसी वस्तु को जड़ मूल से नाश करना पृथिवी के हृदय तथा मर्म स्थल पर प्रहार करना है। कौन पुत्र अपनी मां के हृदय तथा मर्म पर चोट करने का साहस कर सकता है।

षट् ऋतु

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्
हेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनी—
रहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

हे (भूमे) मातृभूमे ! (हायनीः) संवत्सर = वर्ष बनाने वाली (ग्रीष्मः) ग्रीष्म = गरमी (वर्षाणि) वर्षा (शरद्) शरद् (हेमन्तः) हेमन्त (शिशिरः) शिशिर तथा (वसन्तः) वसन्त (ऋतवः) ऋतुएं (ते) तेरे लिए (विहिताः) प्रभु ने बनाई हैं (ते) वे ऋतुएं तथा (अहोरात्रे) दिन और रात, हे (पृथिवि) पृथिवी मातः ! (नः) हमारी सब कामनाएं (दुहातां) पूर्ण करें।

वर्ष की ६ ऋतु होती हैं, १ ज्येष्ठ, आषाढ़ = गर्मी, २ श्रावण, भाद्र = वर्षा, ३ आश्विन, कार्तिक = शरद्, ४ मार्गशीर्ष, पौष = हेमन्त, ५ माघ, फाल्गुन = शिशिर और ६ चैत्र वैशाख = वसन्त। [कहीं कहीं वैशाख ज्येष्ठ = गर्मी इत्यादि इस प्रकार भी गणना होती है] इन छः ऋतुओं के कारण पृथिवी पर नाना प्रकार के परिवर्त्तन होते हैं। वसन्त में पृथिवी की शोभा अवर्णनीय होती है, पृथिवी मानों नूतन वस्त्राभूषण धारण करती है। गर्मी में सूर्य्य के ताप से भूमि तप्त होती है, सब जगह का

जल सूख सा जाता है, वर्षा में वही जल फिर मानों पृथिवी के सन्ताप को शान्त करने के लिए या भूमि की प्यास बुझाने को लौट आता है। वर्षा के अवसान पर शरद् में नाना प्रकार के नूतन पुष्प खिलते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक ऋतु में विचित्र विलक्षणता होती है, जिससे भूमि की शक्ति बढ़ती है। स्वाधीन देश के वासी ही इन ऋतुओं तथा दिन रात से पूर्ण लाभ उठा सकते हैं। जो परवश हैं, स्वतन्त्रता खो चुके हैं, वे भला ऋतुओं का यथेच्छ उपभोग कैसे कर सकते हैं। उन्हें तो सकल संसार को शीतलता प्रदान करने वाला चन्द्र भी सन्तप्त ही करता है, दुःख ही देता है। उनके लिए तो दिन का प्रकाश भी अन्धकार के समान है, चिन्ता के मारे वे रात को सो भी नहीं सकते।

इन्द्रवरा भूमि

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी
यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः।
परा दस्यून्ददती देवपीयूनिन्द्रं
वृणाना पृथिवी न वृत्रम्।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे॥ ३७॥

(या) जो (सर्पं) सांप जैसे कुटिल स्वभाव वालों को (अप विजमाना) बुरी तरह उद्विग्न करती है, डरा धमका कर दूर करती रहती है और जो (विमृग्वरी) विविध प्रकार से शुद्धि संपादन करने वाली है और (यस्यां) जिस भूमि में वे (अग्नयः) आगें, ज्योतिएं (आसन्) रहती हैं (ये) जो (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर हैं। ऐसी (पृथिवी) पृथिवी (देव पीयून्) देवों = विद्वानों, धार्मिकों, परोपकारी सज्जनों से द्वेष करने वालों तथा (दस्यून्) अकर्म्मा, जनता की अकारण हानि करने वाले दुष्टों को (परा + ददती) दूर करती हुई

(वृत्रं न) वृत्र को नहीं अपितु (इन्द्रं) प्रकाशयुक्त शक्तिदायक, सुखवर्धक, ऐश्वर्यप्रापक राजा को (वृणाना) स्वीकार करती हुई, चुनती हुई (वृषभाय) वीर्य्यवान् (वृष्णे) सुखवृष्टि करने वाले (शक्राय) शक्तिशाली के लिए ही अपने आप को (दध्रे) धारण करती है।

जिस राष्ट्र के वासी सततपराक्रमी हों, पुरुषार्थी हों, कर्म्मपरायण हों, विद्वानों की सेवा करने वाले हों, जिनमें इतनी शक्ति हो, कि अपने और पराए कुटिल मनुष्यों को यथायोग्य दण्ड दे सकते हों, अग्नि, विद्युत् की भांति तेजस्वी हों, उस राष्ट्र का राजा कितना तेजस्वी होगा, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है। वह राष्ट्र किसी वृत्र = तमोगुणी, विद्याविरोधी, अज्ञानप्रसारक को अपना प्रमुख नहीं बनाया करता, वह तो इन्द्र = पराक्रमी, सूर्य्यसम तेजस्वी, कर्मठ, प्रजासुखसाधक, राष्ट्र के ऐश्वर्य्यवर्धक को ही अपना नेता स्वीकार करता है।

ऋषि भूमि

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ ३८ ॥
यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥
सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥

(यस्यां) जिस भूमि पर (सदः) यज्ञमण्डप तथा (हविर्धाने) हवि रखने के पात्र रक्खे जाते हैं (यस्यां) जिसमें (यूपः) यूप = यज्ञ का खंभा (निमीयते) बनाया जाता है, गाड़ा जाता है, (यस्यां)

जिसमें (ब्रह्माणः) अथर्ववेदी, (यजुर्विदः) यजुर्वेद के विद्वान् (ऋग्भिः) ऋचाओं से तथा (साम्ना) सामवेद से ब्रह्म का (अर्चन्ति) पूजन करते हैं, स्तवन करते हैं, और (यस्यां) जिसमें (इन्द्राय) इन्द्र = यजमान, राजा, आत्मा को (सोमं) सोमरस, राज्यैश्वर्य, ज्ञानरस (पातवे) पिलाने के लिए (ऋत्विजः) ऋतुओं के अनुकूल, समय के अनुसार यज्ञ कराने वाले (युज्यन्ते) इकट्ठे होते हैं ॥ ३८ ॥

(यस्यां) जिस भूमि में हमारे (पूर्वे) पूर्णज्ञानी (भूतकृतः) यथार्थ व्यवस्था बांधने वाले (ऋषयः) तत्वदर्शी (सप्त) सात (वेधसः) यज्ञ का विधान करने वाले मेधावी महापुरुष (सत्रेण) सज्जनरक्षक अनुष्ठान से अथवा १२ या उससे अधिक दिनों में समाप्य यज्ञ से (यज्ञेन) यज्ञ से और (तपसा सह) तप के साथ (गाः) वाणियों का (उद् आनृचुः) ऊंचा उच्चारण करते हैं ॥ ३९ ॥

(सा) ऐसी वह (भूमिः) भूमि (नः) हमें वह धन (आदिशतु) देवे (यत्) जो (धनं) धन (कामयामहे) हम चाहते हैं। (भगः) सर्वैश्वर्यसंपन्न भजनीय भगवान् (अनु प्रयुङ्क्तां) हमारे अनुकूल व्यवस्था करे, (इन्द्रः) अज्ञाननाशक, अशक्तिनिवारक, सर्वप्रकाशक परमात्मा अथवा विद्वान् (पुरोगवः) अग्रगन्ता, नेता हमें (एतु) प्राप्त होवे ॥ ४० ॥

यह संसार यज्ञ है, इसकी प्रक्रिया को समझने के लिए तथा अपना जीवन उन्नत करने के लिए प्रभु ने यज्ञ करने का आदेश किया है। जहाँ बैठ कर यज्ञ किया जाता है, उस स्थान को 'सदः' कहते हैं, यज्ञ में हवन करने योग्य अथवा देने योग्य जो पदार्थ होते हैं, उन्हें हविः कहा जाता है। यज्ञ में साधारणतया चार मुख्य ऋत्विज होते हैं—ऋग्वेद से जो कार्य्य कराए, उसे 'होता', यजुर्वेद से कार्य्य कराने वाले को 'अध्वर्यु', सामवेद से कार्य्य कराने वाले को 'उद्गाता' कहते हैं। अथर्ववेदी को

अथवा चारों वेदों के जानने वाले को 'ब्रह्मा' कहते हैं। सारे यज्ञों और सारे वेदों का मुख्य तात्पर्य परमात्मा की प्राप्ति है। इसी वास्ते ३८ वें मन्त्र में 'अर्चन्त्यृग्भिः' तथा 'युज्यन्ते.......... पातवे' आया है। यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् यजमान को ऐहिक तथा पारलौकिक रस का पान कराते हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो यह कहा जा सकता है, कि वह यज्ञ, यज्ञ नहीं, जिससे यजमान का अभ्युदय = लोकसिद्धि तथा निःश्रेयस = मोक्षप्राप्ति न हो। गुलामी की ज़ंजीरों में जकड़ा हुआ मोक्ष की कल्पना ही नहीं कर सकता। उसे तो दुनियावी आज़ादी = लौकिक मुक्ति = सांसारिक स्वतन्त्रता का ही भान नहीं है, परमानन्द का तो ज्ञान उसे हो ही नहीं सकता। अपनी मातृभूमि के साथ मनुष्य का एक विशेष ममत्व होता है। मेरे दादा, परदादा इसी भूमि में पले पुसे, यहीं उन्होंने अपने अद्भुत, लोकोत्तर, चमत्कारपूर्ण कृत्य किए थे। हां, इसी भूमि में बैठ कर कान, नाक आदि सातों प्राण शक्तियों को वश करके हमारे पूर्वज बड़े ज्ञानी लोकहित के लिए कठिन साधनाओं का अनुष्ठान करते रहे। हां, यही तो वह पवित्र भूमि है, जहां हमारे ऋषि मुनि सदा से यज्ञ और तप करते चले आए। हां! हां!! यह वही सुन्दर, स्वर्ग से बढ़ कर सुखदा, परम पुनीत भूमि है, जहां हमारे बड़ों ने लोकहित की घोषणा की थी इत्यादि अनेक प्रकार के रम्य और भव्य संस्मरण आते हैं, जिनसे रोमांच हो उठता है, हृदय गद्गद हो जाता है, मस्तिष्क एक अनिर्वचनीय आनन्द में निमग्न हो जाता है। इन भावों के आते ही पतित से पतित मनुष्य का हृदय भी पवित्र हो जाता है। कायर अपनी कायरता छोड़ बैठता है। निर्बल सबल हो जाता है। उसे आशा होने लगती है कि भूमि माता हमारी सारी आवश्यकताएं पूरी कर देगी। वह प्रमाद और आलस्य को त्याग कर पुरुषार्थी बन जाता है, भगवान् का आश्रय लेता है। ज्ञान के प्रकाश में सारे काम करता है। जब इस प्रकार अपने आप को सबल परमात्मा की रक्षा में अनुभव करता हुआ वह राष्ट्र

की सेवा करता है, तो राष्ट्र की अभूतपूर्व उन्नति करने में समर्थ होता है। जिस राष्ट्र के वासी सब के सब परमात्मविश्वासी हों, परमात्मा के आदेश = सृष्टिनियम का पालन करते हों, विद्वान्, धार्मिक, निस्पृह पुरुषों के उपदेश के अनुसार आचरण करते हों, वहां दुःख, दारिद्र्य को ठिकाना ही कहां मिल सकता है, वहां तो सदा सुख, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, आरोग्य, परस्पर सौहार्द का साम्राज्य ही रहेगा।

विजयभूमि

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान्
असपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

(यस्यां) जिस भूमि पर (व्यैलबाः) विशेष रीति से प्रेरित वीर अथवा हर्षध्वनि करने वाले (मर्त्याः) मनुष्य (गायन्ति) गाते हैं और (नृत्यन्ति) नाचते हैं, (यस्यां) जिस भूमि पर (युध्यन्ते) वीर योधा युद्ध करते हैं, (यस्यां) जिस में (आक्रन्दः) ऊंचा शब्द करने वाला (दुन्दुभिः) ढोल (वदति) बजता है, (सा) वह वीरप्रसवा (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नः) हमारे (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्र-णुदतां) अच्छी तरह दूर करे, और वह (पृथिवी) विशाल भूमि (मा) मुझको (असपत्नं) शत्रुरहित (कृणोतु) करे।

जहां के वासी शोक तो जानते न हों, युद्ध उनके लिए स्वर्ग का खुला द्वार हो, वहां सदा विजयदुन्दुभि न बजे, तो और कहां बजे। वहां के लोगों के साथ तो कोई भी द्वेष नहीं करना चाहता, उनके साथ तो सब मैत्री करने को तय्यार रहते हैं। इस कारण वहां के लोग सदा गाते बजाते रहते हैं। अपने बल पराक्रम से मस्त होकर सदा आनन्दोत्सव मनाते हैं। पाश्चात्य पण्डितों ने इस मन्त्र को नाटक का निर्देशक माना है, नाटक में नृत्य, गान तथा वाद्य तीन प्रधान वस्तुएं होती हैं उनको

इस मन्त्र के 'गायन्ति, नृत्यन्ति तथा दुन्दुभिः' वदति, पद सूचित कर रहे हैं। अर्थात् 'नाटक' का मूल भी अन्य विद्याओं की भांति वेद ही है। मातृभूमि की महिमा का वर्णन करते हुए वेद ने जिस प्रकार यहां एक विद्या का संकेत किया है, इस प्रकार अनेक अन्य स्थलों पर भी है, वेद की इस पद्धति को सदा स्मरण रखना चाहिए।

वन्दे मातरम्

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पंच कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

(यस्यां) जिस हमारी मातृभूमि में (व्रीहियवौ) धान जौ आदि (अन्नं) अन्न होता है (इमाः) यह (पंच+कृष्टयः) पांच प्रजाएं = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अतिशूद्र अथवा गोरे, लाल, धूसर, पीले तथा काले मनुष्य (यस्याः) जिसके हैं, उस (वर्षमेदसे) वर्षा से प्रसन्न होने वाली (पर्जन्यपत्न्यै) पर्जन्य = बादल की पत्नी अथवा बादल से पालित (भूम्यै) भूमि को (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो।

मातृभूमि को वन्दन करना उसकी सुरक्षा संपादन करना है अथर्ववेद १-२-१ में 'पर्जन्य' को पिता तथा पृथिवी को माता कहा गया है। यहां 'पर्जन्यपत्न्यै' शब्द से उसी आलंकारिक वर्णन की ओर संकेत किया है। अलंकार इतना स्पष्ट है, कि उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, ग्रीष्म के ताप से सब प्राणी व्याकुल हो उठते हैं। उसके बाद वर्षा होती है, वर्षा पाकर प्रत्येक प्राणी आनन्द में निमग्न हो जाता है, उसके हर्ष का पारावार नहीं रहता। भूमि सब को आश्रय देती है, यह काले. पीले को भी उसी प्रकार से अपनी गोद में स्थान देती है, जिस प्रकार एक गोरे को। यह वर्णविभेद तो मनुष्यों की कुकल्पना है, इस कुकल्पना के कारण संपूर्ण भूगोल में अशान्ति है। जिस प्रकार भूमि माता अपने सब पुत्रों को समान रूप से प्यार करती है, उसी प्रकार यदि सारे मनुष्य भी परस्पर भ्रातृ-भाव से व्यवहार कर माता नमस्कार करें, तो संसार शान्तिधाम बन जाए।

विश्वगर्भा

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या वि कुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भाम्
आशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

(यस्याः) जिस भूमि के (पुरः) नगर, कोट, दुर्ग आदि (देवकृताः) देवों = विद्वान् शिल्पियों के बनाए हुए हैं और (यस्याः) जिस के (क्षेत्रे) क्षेत्र में, मैदान में, खेत में लोग (वि + कुर्वते) नाना प्रकार के कार्य्य करते हैं, (प्रजापतिः) विश्वब्रह्माण्ड का पालक प्रभु उस (विश्वगर्भां) विश्वगर्भा, [सब पदार्थ जिस के पेट में हैं] (पृथिवीं) विस्तीर्ण पृथिवी को (आशां आशां) दिशा विदिशा में (नः) हमारे लिए (रण्यां) रमणीय, सुखसाधिका, हर्षप्रदात्री (कृणोतु) करे ।

जहां विद्वान् कारीगरों का आवास है, जहां के वासियों में से कोई भी निकम्मा, आलसी नहीं है, सब के सब काम में लगे हुए हैं, वहां शिल्प की, विद्या की, शूरता की, वाणिज्य की कितनी उन्नति होगी, इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है । उस देश के लिए तो पृथिवी सचमुच विश्वगर्भा है उनकी सारी आवश्यकताएं पृथिवी पूरी कर देती है, पृथिवी मानो उन की हर एक ज़रूरत का ध्यान रखती है । वह देश धन धान्य से परिपूर्ण रहता है, वहां सुख समृद्धि की पराकाष्ठा होती है । उस देश के चतुर शिल्पियों, होशियार कर्म्मकारों के पुरुषार्थ से देश का कोना कोना सुन्दर सुहावन प्रतीत होता है । देश की दिशा विदिशा उस देश की खुशहाली तथा संपन्नता की गवाही दे रही होती है । परमात्मा के असीम अनुग्रह, अखूट दया के वहां दर्शन होते हैं ।

—— ——

वसुदा वसुधा

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु
मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना
देवी दधातु नो सुमनस्यमाना ।। ४४ ।।

(गुहा) खानों में (बहुधा) अनेक प्रकार का (निधिं) खज़ाना और (वसु) धन (बिभ्रती) धारण करने वाली पृथिवी (मे) मुझे (मणिं) मणि हीरा पन्ना आदि तथा (हिरण्यं) सोना, चांदी, लोहा आदि धातुएं (ददातु) देवे । (रासमाना) सब से श्रेष्ठ दात्री, उत्तम दान करने वाली (वसुदा) धन देने वाली (देवी) दिव्यगुणसंपन्ना, नाना प्रकार से हमारा हित साधन करने वाली (सुमनस्यमाना) प्रसन्न, तथा प्रसन्नता देनेवाली पृथिवी (नः) हमारे लिए (वसूनि) धनादि (दधातु) धारण करती रहे ।

पृथिवी के अन्दर हीरा, पन्ना, सोना, चांदी, तांबा, लोहा, कोयला, रेडियम आदि अत्यन्त उपयोगी एवं बहुमूल्य वस्तुएं हैं, जगत् में इन्हें ही धन कहा जाता है । जिसके पास यह सारी या इनमें से कोई एक पर्य्याप्त परिमाण में हो, वह धनी कहा जाता है । संसार का व्यापार इन पदार्थों के सहारे चलता है । योग्य, विद्वान्, चतुर मनुष्य सदा पृथिवी से यह पदार्थ प्राप्त करते रहते हैं । कई लोग अपनी मूर्खता के कारण, अपनी हीनता के हेतु ऐसे बन जाते हैं, कि यह रत्नगर्भा वसुधा उनके लिए न तो वसुदा = धन देने वाली रहती है और ना ही वसुधा = धन धारण करने वाली रहती है । पूर्वार्द्ध में जहां पृथिवी को वसुदा कहा है, वहां उत्तरार्ध में प्रार्थना की गई है कि वह वसुधा भी बनी रहे । परतन्त्र के लिए पृथिवी मिट्टी का ढेर होता है, वसुधा नहीं होती, वसुदा तो क्यों होने लगी !

एक घर समान

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

(यथौकसं) यथास्थान अथवा एक घर के सदृश (बहुधा) अनेक प्रकार (विवाचसं) नाना बोलियां बोलने वाले अथवा वक्तृत्व शक्ति में निष्पन्न और (नानाधर्म्माणं) अनेक पेशों वाले (जनं) लोगों को (बिभ्रती) धारण करती हुई (पृथिवी) यह विशाल पृथिवी (अनपस्फुरन्ती) निश्चेष्ट तथा (ध्रुवा) निश्चल (धेनुः इव) गौ की भांति (मे) मुझे (द्रविणस्य) धन की (सहस्रं) हजारों (धाराः) धाराएं (दुहां) दुहाए ।

जिस प्रकार एक ही घर के मनुष्य भिन्नरुचि तथा स्वभावभेद के कारण भिन्न-भिन्न कार्य्य करते हैं, उस उस कार्य के कारण उनकी भाषा में भी भेद पड़ जाता है । जैसे जो तक्षा = बढ़ई का कार्य्य करता है, वह बात चीत में अपने ही कार्य्य तथा उपकरणों के उदाहरण और दृष्टान्त देता है, लोहार अपने देता है, एक धर्म्मशास्त्री अपनी परिभाषाएं बोलता रहता है और इस पर इन सब में परस्पर गहरी प्रीति होती है । वेद भगवान् का उपदेश है कि देशभेद तथा आवश्यकतावश कार्य्यवैचित्र्य के कारण मनुष्यों में लड़ाई झगड़ा होना अनुचित है, अपितु एक घर के मनुष्यों की भांति मनुष्यमात्र एक दूसरे को अपना भाई समझे, बन्धु माने और परस्पर प्रीति से व्यवहार करे । तब यह पृथिवी नाना प्रकार के धनों को उपजाएगी । तब सब लोग धन-धान्य से संपन्न होंगे ।

———

कल्याणकारिणी

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा
हेमन्तजब्धो भृमलो गुहाशये ।
क्रिमिर्जिन्वत्पृथिवि यद्यदेजति,
प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद्यच्छिवं तेन नो मृड ॥४६॥

हे (पृथिवि) पृथिवी मातः ! (यः) जो (ते) तेरा (सर्पः) सांप (वृश्चिकः) बिच्छू (तृष्टदंश्मा) जिसके काटने से प्यास लगे (हेमन्त-जब्धः) जाड़े को दूर करने वाला अर्थात् ज्वर चढ़ाने वाला (भृमलः) शरीर में भ्रमि = चक्कर पैदा करने वाला जन्तु (गुहा + शये) गुहा = बिल आदि में पड़ा है, अथवा जो तेरी तृष्टदंश्मा = तेज़ डंक वाला हेमन्त-जब्ध = जाड़े से सिकुड़ा हुआ भृमला सुस्त सांप बिच्छू आदि बिल आदि में लेटा है और (यत् + यत्) जो जो (क्रिमिः) कीड़ा आदि (प्रावृषि) वर्षा में (जिन्वत्) आनन्दित होकर, जीवन पाकर (एजति) चलता फिरता है, (तत्) वह (सर्पन्) हरकत करता हुआ (नः) हमारे (उप) पास (मा + सृपत्) समीप न आवे, हे पृथिवि ! (यत्) जो (शिवं) सुखमय, कल्याणकारी है, (तेन) उस से (नः) हमें (मृड) सुखी कर ।

पृथिवी में सांप, बिच्छू आदि नाना प्रकार के विषैले जन्तु हैं, जिन से मनुष्यों तथा इतर प्राणियों के प्राण सदा संकट में रहते हैं । उनसे बचने की आवश्यकता है । आजकल प्रत्येक देश के राज्याधिकारी प्रति-वर्ष ऐसे अंक प्रकाशित करते हैं, जिन से इन जन्तुओं द्वारा हुई मृत्यु-संख्या का ज्ञान जनता को हो सके । एक साधारण मनुष्य भी इन अंकों को देख कर स्वाधीनता का मूल्य, महत्व समझ जाता है । स्वाधीन देशों में जहां ऐसी अपमृत्युएं नाममात्र को होती हैं, वहां पराधीन देश तो ऐसी अपमृत्युओं का अड्डा बने हुए हैं । पराधीन को सांप, बिच्छू से कौन बचाए ! प्रभो ! सम्पूर्ण संसार में कोई भी मनुष्य पराधीन न रहे ।

चोरडाकूशून्य जनपद

ये ते पन्थानो बहवो जनायना
रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं
जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥

हे मातृभूमे ! (ये) जो (ते) तेरे (बहवः) बहुत से (जनायना) लोगों के आने जाने के (पन्थानः) मार्ग, सड़कें हैं और (रथस्य) रथ आदि के (वर्त्मा) रास्ते हैं, (च) तथा (अनसः) छकड़ों आदि के (यातवे) जाने के लिए जो रास्ते हैं (यैः) जिन पर (भद्रपापाः) भले बुरे (उभये) दोनों (सं + चरन्ति) चलते हैं, हम (तं) उस (पन्थानं) मार्ग को (अनमित्रं) शत्रुरहित (अतस्करं) चोरडाकू-रहित बना कर (जयेम) जीतें, वश में रक्खें। हे मातृभूमे ! (यत् + शिवं) जो सुखमय है, (तेन) उससे (नः) हमें (मृड) सुखी कर ।

बहुत से लोग रथ और छकड़े को एक समझते हैं, वे इस मन्त्र में आए 'रथ' और 'अनः' शब्दों को ध्यान से विचारें । रथ और वस्तु है और अनः = छकड़ा भिन्न पदार्थ है । स्वराज्य की व्यवस्था का प्रधान गुण है– मार्गों का सुरक्षित होना । सड़कें तो सब के वास्ते हैं, उन पर लुच्चे लफंगे चोर डाकू भी चलते हैं और भले सज्जन धार्मिक मनुष्य भी । किसी को कोई मार्ग पर चलने से तो रोक सकता नहीं । हां ऐसा प्रबन्ध अवश्य करना पड़ता है, कि चोर डाकू तथा जनसमाज के शत्रु उन मार्गों पर अपना अधिकार न जमालें । जब संसार में वैदिक राज्यव्यवस्था थी, तब राजा लोग साभिमान कहा करते थे "न मे स्तेनो जनपदे" मेरे राज्य में चोर आदि नहीं हैं । इस मन्त्र में एक बात बहुत ही स्पष्ट और विलक्षण है, आज कल के सभ्यताभिमानी राज्य भी उससे लाभ उठा सकते हैं– जनायन = मनुष्यों के चलने लायक मार्ग और होने चाहियें, रथ = मोटर आदि के पथ और होने चाहियें तथा छकड़ों आदि के मार्ग भिन्न होने चाहियें ।

भले बुरे-सब का आश्रय

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥

(मल्वं) मूर्ख, मलिन को (बिभ्रती) धारण करने वाली तथा (गुरुभृत्) ज्ञानी को पालने वाली (भद्रपापस्य) भले बुरे के (निधनं) मरण = मुर्दे को (तितिक्षुः) सहारने वाली पृथिवी (वराहेण) सुअर से (संविदाना) मेल रखती हुई (मृगाय) उसी को खोदने वाले (सूकराय) जंगली सुअर के लिए भी (विजिहीते) स्थान खाली करती है । अथवा—(मल्वं) हलके पदार्थों को (बिभ्रती) धारण करने वाली तथा (गुरुभृत्) पर्वत आदि भारी वस्तुओं को धारने वाली अथवा (मल्वं) आकर्षणशक्ति को (बिभ्रती) धारण करती हुई अत एव (गुरुभृत्) भारी पदार्थ को धारती हुई (भद्रपापस्य–तितिक्षुः) भले बुरे के मुर्दे को सहारती हुई पृथिवी (वराहेण) उत्तम जलप्रद मेघ के साथ (संविदाना) मेल रखती हुई (मृगाय) सर्वसंशोधक (सूकराय) उत्तम किरणसंपन्न सूर्य्य के लिए भी (विजिहीते) विशेष रूप से स्थान देती है ।

भले, बुरे, धार्मिक, पापी सब को पृथिवी आश्रय देती है । जीतों को स्थान देती है, तो मृतक देह का ठिकाना भी पृथिवी ही है । जो इसे खोदते हैं, इसके नाश में तत्पर हैं, उन्हें भी यह आश्रय देती है ।

पृथिवी में गुरुत्वाकर्षणशक्ति है, इस सिद्धान्त का संकेत इस मन्त्र में किया गया है । भूमि का मेघ से संबन्ध है, मेघगत जल पृथिवी ही से जाता है । मेघ से संबन्ध रखती हुई पृथिवी सूर्य्य के लिए भी सदा खुली है । यदि पृथिवी सदा मेघाच्छन्न रहे, तब भी जीना मुश्किल और यदि सदा सूर्य्य से तपती रहे, तब भी जीवन दुर्लभ । अत एव समयानुसार दोनों का उपयोग है । निघण्टु में 'वराह' मेघ का पर्य्याय शब्द पढ़ा है ।

———

निर्भय भूमि

ये त आरण्या पशवो मृगा वने हिताः
सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित
ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

(ये) जो (ते) तेरे (आरण्याः) जंगली पशु हैं और जो (वने+हिताः) जंगल में रहने वाले (मृगाः) हिरण आदि हैं और जो (सिंहाः) सिंह शेर, (व्याघ्राः) बाघ, चीता, चित्रा आदि (पुरुषादः) मनुष्य-भक्षी (चरन्ति) विचरते हैं, उनको और (उलं) गीदड़ (वृकं) भेड़िया (दुच्छुनां) दुष्ट स्वभाव वाले जंगली कुत्ते (ऋक्षीकां) रीछ जाति के पशु और (रक्षः) अन्य हिंसक जन्तुओं को हे (पृथिवि) भूमे ! (इतः) यहां (अस्मत्) हमारे पास से (अप+बाधय) दूर भगा ।

बत्तीस दांतों के बीच में जैसे जिह्वा बेचारी विवश है, उससे कहीं अधिक मनुष्य जाति की अवस्था है । कहीं इसे सांप बिच्छू का डर है, तो कहीं चोर डाकू का, कहीं शेर, गीदड़, भेड़िए आदि का इत्यादि २ । यदि ये भय मनुष्य को न होते, तो कदाचित् मनुष्य अकेला रहना अधिक पसन्द करता । इन भयों के कारण मनुष्यों में सामाजिकता स्वाभाविक है, जहां समाज बना, वहां राजा की = मुखिया की भी आवश्यकता आ पड़ी । भिन्न स्वभाव तथा रुचिवैचित्र्य के कारण मनुष्यों की टोलियां बन जाती हैं, जिनसे उनकी विशेष ममता होती है, उसी टोली में से यदि उनका मुखिया हुआ तो शान्ति, अन्यथा लड़ाई झगड़ा, फ़िसाद होते रहते हैं, सचमुच जहां २ स्वराज्य है, वहां इन पशुओं से जनता को कोई खटका नहीं । कई स्वराज्य संपन्न देशों में भेड़िया आदि हिंस्र पशु सदा सर्वदा के लिए समाप्त कर दिए गए हैं । पराधीन देशों के लोग तो निश्शस्त्र होने के कारण इन पशुओं से अपनी रक्षा भी नहीं कर सकते ।

आततायिशून्या

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वान् रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥ ५० ॥

(ये) जो (गन्धर्वाः) हिंसक, आततायी अथवा भोगी विलासी पुरुष और (अप्सरसः) कर्म्मरहित निकम्मे, निखट्टू अथवा विलासिनी स्त्रियां हैं (च) और (ये) जो (अरायाः) निर्धन अथवा कंजूस और (किमीदिनः) दूसरों के धन जन, जान माल को तुच्छ समझने वाले हैं, उन सबको और (पिशाचान्) मांसभक्षी तथा (रक्षांसि) राक्षसों को (तान्) उन (सर्वान्) सबको, हे (भूमे) मातृभूमे ! (अस्मत्) हमसे (यावय) पृथक् कर ।

जिस देश में आततायी = विना प्रयोजन दूसरे का घर बार जला देने वाले, निकम्मे, आलसी, दूसरों की कमाई पर मौज उड़ाने वालों का ज़ोर हो, जहां निर्धन, कंजूस, पराये जान माल की परवा न करने वाले लोग हों, वह देश यदि दरिद्र, आपद्ग्रस्त, रोग से पीड़ित न हो, तो क्या हो । जहां के लोग मांस खा खाकर प्रतिदिन गौ आदि दूध देने वाले पशुओं की भयंकर कमी कर रहे हों, वहां के लोग दुर्बलकाय, तेजोहीन, वर्चोरहित, मलिनमुख न हों, तो क्या हों । इन्हीं लोगों को वैदिक भाषा में 'राक्षस' 'पिशाच' कहते हैं । ऐसे दुर्वृत्त राक्षसों से जिस देश का जितना बचाव रहता है, उतना ही वह देश सुखी, समृद्धिशाली, ऐश्वर्य्यसंपन्न होता है । स्वाधीन देश के अधिकारी राज्यव्यवस्था से ऐसे राक्षसों का एक दम सफ़ाया कर देते हैं । पराधीन देशों में दान भी निकम्मे ढंग पर होता है और देश की हानि का हेतु बनता है, स्वाधीन देशों में दान विपुल परिमाण में होता है और सर्वथा देशहितकारी कार्यों के लिए होता है । स्वाधीनता की महिमा अकथ है ।

प्रियधाम

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति
हंसः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते
रजांसि कृण्वञ्च्यावयँश्च वृक्षान् ।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥
यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते
अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता
सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि ॥ ५२ ॥

(यां) जिस भूमि पर (द्विपादः) दो पैरों वाले तथा (पक्षिणः) पंखों वाले (हंसः) हंस (सुपर्णाः) गरुड़ (शकुनाः) चिड़ियां आदि (वयांसि) पंच्छी (संपतन्ति) उड़ते हैं, बसेरा लेते हैं (यस्यां) जिस भूमि पर (मातरिश्वा) आकाश में संचार करने वाली (वातः) हवा (रजांसि) धूलि (कृण्वन्) करती हुई, बनाती हुई (च) और (वृक्षान्) वृक्षों को उखाड़ती हुई (ईयते) चलती है, उस (वातस्य) हवा की (प्रवां) आगे की गति (उपवां) पीछे की गति के (अनु) अनुसार (अर्चिः) आग की ज्वाला (याति) चलती है ॥५१॥ (यस्यां) जिसमें (भूम्यां अधि) भूमि पर काला (च) और (अरुणं) लाल (अहोरात्रे) दिन रात (संहिते) इकट्ठे हुए (विहिते) क्रम से आते हैं, यह (पृथिवी) विशाल (भूमिः) भूमि (वर्षेण) वर्षा से (वृता वृता) आच्छादित और ढकी है, (सा) वह मातृभूमि (प्रिये+धामनि धामनि) हर एक प्यारे, धाम और स्थान में (भद्रया) भलाई से युक्त करके (नः) हमें (दधातु) धारण करे ।

मातृभूमि के पक्षी भी परिचित होते हैं, वहां का पवन भी विशेष आकर्षण रखता है। दूसरे देश के वायु में बेगानापन प्रतीत होता है। देश की आग भी मनुष्य को प्रिय मालूम होती है, दूसरे देश की आग तो उसे भयंकर ज्वाला प्रतीत होती है। देश की धूलि से भी मनुष्य को प्रेम की गन्ध आती है। अपने देश की धूप, चांदनी याद आती है, वहां के रात दिन की शोभा की स्मृति उसे व्याकुल किए देती है। अपने देश की वृष्टि, उससे होने वाली हरियाली की याद उसके मन को सदा लुभाए रखती है। जिस देश में प्रकृति की ऐसी मनोहर छटा हो, वह देश कितना भाग्यशाली होगा ? ऐसे देश का कोना कोना क्यों उसके वासियों को प्रिय न हो।

किसी प्रवासी मनुष्य को जब अपने देश की कोई वस्तु दीख पड़ती है, तो उसका मुरझाया मन फिर से हरा भरा प्रफुल्ल हो उठता है। दूसरे देशों में भी नदी नद, गिरि पर्वत, गुहा कन्दरा, वृक्ष विटप, लता प्रतान आदि सब कुछ होता है, किन्तु मनुष्य का तो क्या पशुओं तक का स्वभाव भी इस विषय में एक सा है। जो उल्लास उन्हें स्वदेश में, स्वस्थान में होता था, वह अन्य स्थान में नहीं होता। इसका कारण ? कौन बताए ? मनोविज्ञान की यह सुन्दर समस्या है। दूसरे देश में प्रवासी को कुछ ऐसी गन्ध आती है, जो उसे पराएपन का बोध कराती है। वहां वह भाषा, वेष, भाव, आचार, व्यवहार, विचार का अन्तर अनुभव करता है। यह बातें उसे भेद रखने पर बाधित करती हैं। उसे परदेश में रह रह कर स्वदेश की याद आती है और वह विषाद के स्वर में गाता है—या द्विपादः.......॥ उसे विचार आता है, मातृभूमि में मुझे कैसा स्वातन्त्र्य था, वहां मुझे खुली छुट्टी थी, इसका स्मरण आते ही वह कहता है, प्रभो ! "सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि।" मातृभूमि का एक एक कण प्यारा और सुहावना लगता है। किनको ? जिन्होंने मां की महिमा जानी और मानी है।

मेधा देने वाली

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥ ५३ ॥

(द्यौः) प्रकाशमय लोक (च) और (पृथिवी) विशाल भूमि (च) तथा (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष, द्यौ और पृथिवी का मध्यवर्ती विशाल अवकाश (मे) मुझे (इदं) यह = अर्थात् मेरा अभिलषित (व्यचः) फैलाव, विस्तार, व्याप्ति (सं + ददुः) देते हैं (च) और (अग्निः) अग्नि, विद्युत् , यज्ञ, नेता, ज्ञानी (सूर्य्यः) सूर्य्य, सर्व स्थावर जंगम का अन्तरात्मा परमात्मा, प्राण (आपः) जल, सर्व सत्कर्म्मों में परिनिष्ठित विद्वान् (च) और (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य, सर्वहितकारी, प्रकाशमय पदार्थ, विजेता शूरवीर, कान्तिमान् , विद्वान् , व्यवहार में निपुण महात्मा (मे) मुझे (मेधां) बुद्धि देते रहे ।

जब मनुष्य स्वतन्त्र होता है, उसकी बुद्धि बहुत बड़ी उड़ान लेती है, अग्नि, विद्युत्, सूर्य्य, चन्द्र, जल, आकाश, ग्रह, तारा, नक्षत्र, धातु, उपधातु, खनिज, वनस्पति आदि सकल पदार्थों का अनुसन्धान करती है, सबका तत्त्व खोज निकालती है । उसके बल से मनुष्य जल, स्थल, नभ में अपने सामर्थ्य का चमत्कार दिखाता है, बुद्धि के बल से व्योमयान आदि विलक्षण रथ बना कर गगनविहारी बनता है, नौका, तरणि आदि बड़े बड़े पोत, जहाज़ बनाकर जल में बेखटके विचरण करता है । अर्थात् जल, स्थल तथा नभ में कोई ऐसा स्थान नहीं रह जाता, जहां मनुष्य न जाता हो, अपने इस अद्भुत कौशल को देख कर मनुष्य सर्वत्र अपनी ही व्याप्ति देखता है । परतन्त्र मनुष्य तो इतना संकीर्ण तथा संकुचित हो जाता है कि उसे अपनी तुच्छ कुटिया ही विशाल भूमण्डल से भी बड़ी जंचने लगती है ।

सहनशील देशभक्त

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभिषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ ५४ ॥

(अहं) मैं (सहमानः) सरदी गरमी, भूख प्यास, सुख दुःख आदि परस्पर विरोधी द्वन्द्वों को सहने वाला (अस्मि) हूँ, मैं (नाम) अपने नाम, यश, कीर्त्ति के कारण (भूम्यां) भूमण्डल पर, मातृभूमि पर (उत्तरः) सर्वश्रेष्ठ हूँ । मैं (अभिषाट्) अन्दर, बाहर दोनों शत्रुओं को दबाने वाला हूँ, मैं (विश्वाषाट्) सबको दबा कर वश में रखने वाला हूँ और (आशां आशां) प्रत्येक दिशा में (विषासहिः) विशेष रूप से विजयी हूँ ।

स्वतन्त्रता से जीवन पाकर एक मनुष्य उत्साह से भर जाता है, उसमें साहस का भरपूर संचार होता है । उस उत्साह और साहस से मस्त हुआ वह संसार के कोने कोने में जाता है, पर्वतों की दुर्गम घाटियों को पार करता है, दुर्लङ्घ्य वनों और जंगलों को पार करता है, नदी, पर्वत, सागर कोई भी उसे मार्ग रोकते प्रतीत नहीं होते । स्वतन्त्रता देवी के उस वरपुत्र का सर्वत्र सत्कार होता है । प्रकृति देवी इसके लिए सब प्रकार की सुविधाओं का विधान करती है । इस प्रकार सर्वत्र अपने आप को विजयी अनुभव करता है । इसके विपरीत मनुष्य को स्थल भी अलंघ्य दीखता है । वह सर्वत्र अपने आपको असमर्थ, अशक्त समझता है । उसको तो घर से बाहर निकलना दूभर मालूम देता है । वह परले दर्जे का कायर, डरपोक, भीरु हो जाता है । साहस, उत्साह के कार्य्य करते उसके प्राण कूच करते प्रतीत होते हैं । स्वतन्त्र मनुष्य ही स्वरूप को जान सकता है ।

विभूतिमयी भूमि

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद्
देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीम्
अकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥

हे (देवि) दिव्यगुणयुक्त मातृभूमे ! (पुरस्तात्) पहले से (प्रथमाना) विस्तीर्ण हुई तू ने (यत्) जो (देवैः+उक्ता) देवों = विद्वानों, शूरों, चतुर कारीगरों, धार्मिक वणिकों से आज्ञप्त होकर (अदः) यह (महित्वं) महिमा, बड़ाई (वि+असर्पः) विशेष रूप से फैलाई, (तदानीं) तब (त्वा) तुझ में (आ) सब ओर से (सुभूतं) कल्याण, ऐश्वर्य्य, उत्तम विभूति (अविशत्) प्रविष्ट हुई और तूने (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं को (अकल्पयथाः) योग्य और समर्थ बना दिया ।

पृथिवी शब्द का अर्थ है प्रथित = फैली हुई, विस्तृत । पृथिवी को फैलाना संभव नहीं हो सकता, किन्तु वेदों और शास्त्रों में इस आशय के कई मन्त्र और श्लोक आते हैं । तब इसका आशय विचारने योग्य है । उसी आशय की ओर इस मन्त्र में इशारा किया है । विद्वान्, चतुर कारीगर, शूरवीर आदि सब मिल कर पृथिवी की महिमा का विस्तार करते हैं, इसके गुप्त खज़ानों को, छिपी निधियों को प्रकट करते हैं । विद्वानों के इस यत्न का परिणाम यह होता है, कि पृथिवी पर सब ओर ऐश्वर्य्य, समृद्धि तथा विभूति के दर्शन होते हैं, सर्वत्र अनुपम शोभा तथा विलक्षण छटा दिखाई देती है । दिशा विदिशा सब कल्याणमय और मनुष्य की सुखसाधिका प्रतीत होती हैं । परतन्त्र देश के विद्वान् स्वदेश की महिमा का क्या विस्तार कर सकते हैं । उनकी तथा उनके पूर्वजों की योग्यता तथा विद्वत्ता को सब सन्देहदृष्टि से देखते हैं ।

मां की बड़ाई बोलें

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

(ये) जो (ग्रामाः) ग्राम और (यत्) जो (अरण्यं) जंगल हैं और (भूम्यां अधि) भूमि पर (याः) जो (सभाः) सभाएं हैं, (ये) जो (संग्रामाः) संग्राम, युद्ध होते हैं, जो (समितयः) समितिएं, सम्मेलन होते हैं, (तेषु) उन सबमें (ते) तेरे विषय में (चारु) अच्छी प्रकार (वदेम) बोलें ।

स्वतन्त्र मनुष्य सर्वत्र अपने देश का यशोगान करता है । संसार में कई बार संग्राम होते हैं, युद्ध छिड़ते हैं, उनमें जो आज़ाद मनुष्य भाग लेते हैं, उनकी बड़ी कीर्त्ति होती है, यश होता है । परतन्त्र मनुष्य भी उसमें लड़ते हैं, किन्तु उनमें कोई उत्साह नहीं होता, जोश नहीं होता, वे तो भाड़े के टट्टू समझे जाते हैं, उनका कोई मान नहीं होता, कोई प्रतिष्ठा नहीं होती । जिसकी अपनी प्रतिष्ठा नहीं, वह अपने देश का क्या मान कराएगा ? युद्ध के पश्चात् सन्धिपरिषत् या विजय के सामान का बटवारा होता है । तब स्वतन्त्र देशों के विजेता तो अपने अपने देश के दिए भाग का नाम लेकर खूब पक्ष लेते हैं, किन्तु विजय का प्रधान कारण होते हुए भी पराधीन देश वहां कुछ नहीं बोल सकते, उनके वाक्य का कोई मोल नहीं । उस समय उसे अपनी पराधीनता का भार मालूम होता है । संसार में कई बार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते हैं, अन्तर्जातीय परिषदें बैठती हैं, वहां भी परतन्त्र राष्ट्र को कोई नहीं पूछता, उसकी राष्ट्र के तौर पर कोई सत्ता ही स्वीकार नहीं करता । यदि किसी कारण उसकी सत्ता मानी भी गई, तो उसके शासकराष्ट्र के हित के लिए । पराधीन का मानो संसार में कोई हक़-अधिकार नहीं ।

दुष्टों को दूर करने वाली

अश्व इव रजो दुधुवे वि तां जनान्
य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा
वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ।। ५७ ।।

(यात्) जब से यह पृथिवी (अजायत) उत्पन्न हुई है, इस (पृथिवीं) पृथिवी पर (ये) जो लोग (आक्षियन्) आ बसे हैं, तब से यह (तान्) उन (जनान्) लोगों को (वि) विशेष प्रकार से (दुधुवे) कंपाती है, झाड़ती है, (इव) जिस प्रकार (अश्वः) घोड़ा (रजः) धूलि को झाड़ता है। यह पृथिवी (मन्द्रा) आनन्दमयी (अग्रेत्वरी) आगे जाने की शीघ्रता करने वाली (भुवनस्य) समस्त उत्पन्न पदार्थों की (गोपाः) रक्षा करने वाली, (वनस्पतीनां) वनस्पतियों तथा (ओषधीनां) ओषधियों की (गृभिः) गर्भस्वरूपा है।

पृथिवी जब से उत्पन्न हुई है, तब से इस पर नाना मनुष्य आए और चले गए। घोड़े के शरीर पर रज क्लान्ति देने वाली होती है, उसके क्लेश को बढ़ाने वाली होती है। अतएव घोड़ा उसे झाड़ फेंकता है। इसी प्रकार जो जनसमुदाय पृथिवी पर भार के समान होता है, जो पृथिवी के—मातृभूमि—के कष्टों की वृद्धि का कारण होता है, उसे यह शरीर के मल की भांति परे फैंक देती है। यह भूमि मानो आगे दौड़ी जा रही है, जो जाति या समुदाय दौड़ में इस जगन्माता का साथ नहीं देता, वह अवश्य पिछड़ जाएगा, संभव है, उसका नाम निशान भी मिट जाए। परतन्त्र मनुष्य रूढ़ी का दास हो जाता है, वह भूमि माता का साथ नहीं देता, माता भी उसे नगण्य समझ झाड़ फेंक देती है।

शत्रुनाश में समर्थ

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥

मैं (यत्) जो (वदामि) बोलता हूँ, (तत्) वह (मधुमत्) मधुर, मीठा, हितकर, सारमय (वदामि) बोलता हूँ, (यत्) जो मैं (ईक्षे) देखता हूँ, (तत्) तो वे (मा) मुझे (वनन्ति) चाहने लगते हैं, प्यार करते हैं, आदर करते हैं । मैं (त्विषीमान्) कान्तिमान्, तेजस्वी और (जूतिमान्) वेगवान्, फुरतीला, उत्साही, साहसी (अस्मि) हूँ, (दोधतः) मेरे देश को दोहने वाले (अन्यान्) ग़ैरों, बेगानों, शत्रुओं को (अव · हन्मि) बुरी तरह से मारता हूँ ।

आज़ाद मनुष्य जब बोलता है, ऐसा बोलता है, जो उसके देश के लिए परम कल्याणमय हो । वह अपने देश को इस दृष्टि से देखता है, कि सब उससे प्यार करते हैं, स्नेह करते हैं । वह अपने आपको हत-तेजस्क और मृतक नहीं समझता । वह अपने भीतर अटूट उत्साह, अखुट साहस और स्फूर्ति का अनुभव करता है । जब वह देखता है, कि शत्रु लोग अथवा किसी अन्य देश के लोग उसके देश के ऐश्वर्य्य को दोह रहे हैं, उसके देश को अपनी चातुरी से लूट रहे हैं, तब वह चुपका नहीं बैठा रहता, अपितु ऐसे शत्रुओं को समूल नाश करने का यत्न करता है, और उसमें सफल भी होता है । पराधीन मनुष्य को इस मन्त्र में सुझाया गया है, कि तू अपने को हीन मत जान, उठ, पुरुषार्थ कर, तेजस्वी बन देश के अन्दर बाहर के शत्रुओं का नाश कर । अपनी छिपी शक्ति को जगा, अकेला अपने आपको अनुभव न कर । सहस्रों कायरों की अपेक्षा एक वीर अधिक बलवत्तर होता है ।

धेनुसमान भूमि

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥ ५९ ॥

(शन्तिवा) शान्ति देने वाली (सुरभिः) सुगन्धमयी (स्योना) सुखदायिनी, कल्याणकारिणी (कीलालोध्नी) अन्न जल आदि मीठे रस जिस के हवान = ऊधा में हैं, यह (पृथिवी) विशाल (भूमिः + पयस्वती) भूमिरूप गौ अथवा जल दूध आदि से भरपूर भूमि (मे) मुझे (पयसा + सह) दूध आदि उत्तम रसों के साथ (अधि + ब्रवीतु) मानो आशीर्वाद देवे ।

पृथिवी में खट्टा, मीठा, कटु, तिक्त, कषाय आदि सब रस हैं, दूध, घी आदि उत्तम रसमय पदार्थों का मूलभूत भी पृथिवी है । प्रत्येक प्राणी अपने योग्य अन्न रस आहार को भूमि से लेता है और तृप्ति और शान्ति प्राप्त करता है । सबको स्थान देकर पृथिवी सब के सुख का कारण बन रही है । सबको योग्य पदार्थ देती हुई पृथिवी मानो उपदेश कर रही है, कि हम सब भी ऐसा करें । इस मन्त्र में पृथिवी को पयस्वती गौ की उपमा दी गई है । जिस प्रकार गौ की जितनी अधिक सेवा हम करते हैं, उतना ही अधिक उससे दूध घी प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार इस पृथिवी की जितनी अधिक सेवा हम करें, उतना अधिक ऐश्वर्य और समृद्धि हमें मिलेगी । यही उपदेश है, जो व्यवहार से हमें पृथिवी दे रही है । जो इस उपदेश को समझ गए हैं, वे स्वतन्त्रता का सुख भोग रहे हैं । जिन्हों ने माता का यह उपदेश नहीं समझा, वे दुःख भोग रहे हैं ।

भोगभूमि

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्म्मा—
ऽन्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यद्
आविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥ ६८ ॥

(अर्णवे अन्तः) प्रकृतिरूपी महासागर के बीच (रजसि) परमाणु पुंज में (प्रविष्टां) प्रविष्ट (यां) जिसको (विश्वकर्मा) सकलकर्म्म-प्रवीण भगवान् ने (हविषा) अपनी ग्राहिका शक्ति से (अनु + ऐच्छत्) खोज निकाला और (भुजिष्यं) भोग्य पदार्थों से भरपूर यह (पात्रं) पात्र (यत्) जो अभी तक (गुहा) पर्दे में, गुप्त स्थान में (निहितं) पड़ा था। वह (भोगे) भोग के लिए (मातृमद्भ्यः) जन्मधारियों, माओं वालों, पृथिवी को माता मानने वालों के लिए (आविः + अभवत्) प्रकट हुआ।

सृष्टि से पूर्व यह पृथिवी प्रकृति रूप महासागर में पार्थिव परमाणुओं के रूप में थी। जीवों के भोग के लिए प्रभु ने इसको उस महासागर से पृथक् कर दिया, अथवा लोक के रूप में बनी यह पृथिवी सागर = समुद्र में स्थित है। भगवान् ने जीवों के कल्याण के लिए ही इस जगत् का निर्माण किया है। यह संसार भोग तथा पुरुषार्थ का स्थल है। जो पुरुषार्थ करता है, वह भोग भी प्राप्त करता है। जो पृथिवी को अपनी माता समझते हैं, माता के तुल्य इसकी सेवा अर्चना करते हैं, वे ही इस भुजिष्य से नाना पदार्थ प्राप्त कर विविध सुखभोग करते हैं।

कर्मभूमि

त्वमस्यावपनी जनानाम्
अदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति
प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ ६१ ॥

(त्वं) तू (जनानां) जीवों की (आवपनी) बीज बोने की स्थली = कर्म्मस्थली है, तू (अदितिः) अखण्ड्या, अत एव (कामदुघा) सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली और (पप्रथाना) अत्यन्त विशाल है। (यत्) जो (ते) तेरी (ऊनं) कमी, न्यूनता है, (ते) तेरी (तत्) उस कमी को (ऋतस्य) सृष्टिनियम का (प्रथमजाः) प्रथम प्रकाशक अथवा प्रधान ज्ञाता (प्रजापतिः) प्रजापालक भगवान्, विद्वान् राजा (आ · पूरयाति) सर्वथा पूरा कर देता है।

यह भूमि जीवों की कर्मस्थली है। जैसा बोते हैं, वैसा काटते हैं, इससे मनुष्यों को सत्कर्म्म की प्रेरणा की गई है। मनुष्य की सब ऐहिक कामनाएं पृथिवी से पूर्ण हो सकती हैं। साधारण मनुष्य के लिए जो वस्तु भूमि पर दुर्लभ है, विद्वान्, ज्ञानी, सृष्टितत्व का पण्डित उसे आसानी से प्राप्त कर सकता है। अथ च स्वदेशरक्षा तथा स्वतन्त्रता का प्रयोजन केवल यह है, कि मनुष्य की अभीष्टसिद्धि में कोई विघ्न न हो। जिस राष्ट्र के मनुष्य स्वतन्त्र हैं, उन्हें प्रायः सारे ऐहिक सुख प्राप्त होते हैं। पारमार्थिक सुख ऐसी वस्तु है, जो भूमि से नहीं मिल सकता, यह पृथिवी में भारी न्यूनता है। इस की चाह वाले पर भगवान् कृपा करते हैं और इस कमी को दूर कर देते हैं, अर्थात् उसे निहाल कर देते हैं।

बलिदाता

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥

हे (पृथिवि) पृथिवि मातः ! (ते) तेरी (प्रसूताः) सन्तान, उपज और (उपस्थाः) गोद, समीपस्थ पदार्थ (अस्मभ्यं) हमारे लिए (अनमीवाः) सामान्यरोगरहित, रोगनिवारक (अयक्ष्माः) यक्ष्म = राजरोग, तपेदिक् आदि के हटाने वाले (सन्तु) हों । (नः) हमारी (आयुः) आयु (दीर्घं) लम्बी हो । (वयं) हम (प्रतिबुध्यमानाः) जागते हुए, सावधान होकर (तुभ्यं) तुझे (बलिहृतः) बलि = कर देने वाले (स्याम) हों ।

जो लोग मातृभूमि की सेवा में सदा सावधान रहते हैं, जो मातृभूमि के प्रति अपने कर्त्तव्य में कभी चूक नहीं करते, माता भूमि भी उनकी सदा रक्षा करती है, माता की गोद उनके लिए सदा सुखदायिनी होती है । माता का प्रत्येक पदार्थ उनके लिए हितकर ओषधि का काम देता है । भूमि की प्रत्येक उपज उसके शरीर को हृष्ट पुष्ट नीरोग बनाने में पूर्ण सहायता करती है । पृथिवी के इन आरोग्यवर्धक, दुःखविनाशक पदार्थों के सेवन करने से उसकी आयु लम्बी होती है, जिससे वह चिरकाल तक इन पार्थिव पदार्थों का उपभोग करता हुआ सदा मातृभूमि के हितसाधन में लगा रहता है । प्रभु प्रत्येक मनुष्य के हृदय में देशभक्ति की यह पुनीत भावना भर दे ।

भूमिमाता

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥ ६३॥

इति पृथिवीसूक्तं समाप्तम्

हे (भूमे + मातः) भूमि मातः! तू (मा) मुझे (भद्रया) भलाई के साथ (सुप्रतिष्ठितं) उत्तम प्रतिष्ठा वाला (नि + धेहि) बनाए रख। हे (कवे) सब पदार्थों के ज्ञान का आधार! (दिवा) द्यौ के साथ (संविदाना) एकमत होती हुई तू (मा) मुझे (श्रियां) लक्ष्मी में और (भूत्यां) भूति में, ऐश्वर्य में (धेहि) स्थापित कर।

इस मन्त्र में भूमि को स्पष्ट 'मातः' शब्द से संबोधन किया गया है। 'वन्दे मातरम्' का मूलभूत यह वैदिक सूक्त है। मनुष्य जब तक भलाई से युक्त रहता है, नेक कामों में लगा रहता है, तब तक उसकी प्रतिष्ठा बनी रहती है। संसार उसका आदर करता है। इस वास्ते इस अन्तिम मंत्र में भलाई के सुदृढ़ तथा प्रतिष्ठित रहने की अभिलाषा प्रकट की गई है। जिस प्रकार सूर्य के साथ संबन्ध होने से पृथिवी पर अनेक विभूतियां उपजती रहती हैं, इसी प्रकार जो मनुष्य ज्ञान से, परमात्मा से संबन्ध बनाए रखता है, वह सदा सुखी रहता है। उसकी स्वतन्त्रता कभी विक्षत नहीं होती।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकेण वेदानन्देत्यन्वर्थापराभिधानेन
वे० शा० श्रीमद्दयानन्दतीर्थस्वामिना कृताथर्ववेदीय-
पृथिवीसूक्तव्याख्या समाप्तिं गता।

———

ओ३म्

अथर्ववेदीय

ब्रह्मगौ सूक्त

[अ० ५० १८]

[प्रजाद्रोही राजा का दुष्परिणाम]

व्याख्याकार—

वे० शा० श्री स्वामी वेदानन्द [दयानन्द] तीर्थ.

ओ३म्

विचार

इस सूक्त का 'ऋषि' अर्थद्रष्टा 'मयोभूः' है। देवता = प्रतिपाद्य-विषय 'ब्रह्मगौ' है। सूक्त का भाष्य करने से पूर्व सूक्तप्रतिपाद्य 'गौ' का विवेचन करना आवश्यक है। इसके साथ ही 'ब्राह्मण' 'अद् = खाना' इन दो पदों पर भी विचार करना योग्य है। 'ब्राह्मण' पद इस सूक्त में गौ का विशेषण है, 'ब्राह्मण की गौ नहीं खानी चाहिए' यह इस सारे सूक्त का अभिप्राय है। यदि 'गौ' का अर्थ प्रसिद्ध 'गाय' पशु (जैसा योरूपीय तथा एतद्देशीय बहुत से पण्डित करते हैं) लिया जाए, तो सुतरां प्रश्न होता है, क्या ब्राह्मणेतर की गौ खा लेनी चाहिए। ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर की 'गौ' में इतना अन्तर क्यों ?

'गो' पदार्थ

इन सारे प्रश्नों का समाधान आसानी से हो जाए, यदि हम किसी प्रकार इस सूक्त में प्रयुक्त 'गौ' शब्द के अर्थ का अवधारण कर सकें।

साधारणतः 'गौ' शब्द सुनते ही प्रत्येक से परिचित, नित्य दूध से तृप्त करने वाले एक भोले 'गाय' नामक पशु का बोध होता है। किन्तु इस अर्थ को स्वीकार करने से आपाततः यह सूक्त अत्यन्त बीभत्स अर्थ का प्रतिपादक बन जाता है। हम इस बीभत्स अर्थ को ही कदाचित् स्वीकार कर लेते, किन्तु 'गौ' शब्द के अर्थ कोषकारों ने अनेक दिए हैं। जैसे—

दिग्दृष्टिदीधितिस्वर्गवज्रवाग्वाणवारिषु।
भूमौ पशौ च गोशब्दो विद्वद्भिर्दशसु स्मृतः।

(हलायुधकृत—अभिधानरत्नमाला ५ कांड। ६८ श्लोक) हलायुध के मतानुसार 'गौ' के १० अर्थ हैं—

१—दिशा	६—वाक् = वाणी
२—दृष्टि	७—वाण = तीर
३—दीधिति = किरण	८—वारि = जल
४—स्वर्ग	९—भूमि
५—वज्र	१०—पशु = गाय

वेद के प्रसिद्ध कोप 'निघण्टु' में 'गौ' के अर्थ इस प्रकार लिखे हैं—

गौ = १—पृथिवी (गौः ग्मा–इत्येकविंशतिः पृथिवीनामानि) १।१

२—द्यौ (स्वः पृश्निः, नाकः, गौ... इति)

३—आदित्य (षट् साधारणानि) १।४
यास्काचार्य्य स्वयं निरुक्त में इसकी व्याख्या करते हैं—'साधारणानि उत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च' अर्थात् यह छः नाम द्यौ और आदित्य के साधारण = सांझे नाम हैं।

४—किरण (खेदयः, किरणः, गावः, रश्मयः,........इति पंचदश रश्मिनामानि। १–५

५—लगाम—निघण्टु १–५ पर व्याख्या करते हुए श्री यास्कमुनिजी लिखते हैं, 'तेषामादितः साधारणानि पंचाश्वरश्मिभिः' अर्थात् 'खेदयः' आदि आरंभ के पांच नाम किरण और घोड़े की लगाम दोनों के सांझे हैं।

६—वाणी (श्लोकः, धारा, इळा, गौः, ... इति सप्तपंचाशद्वाङ्नामानि। १–११)

७—स्तोता (रेभः,....गौः, इति त्रयोदश स्तोतृनामानि, ३–१६)
निघण्टु के भाष्य निरुक्त में 'गो' शब्द पर इस प्रकार विवेचन मिलता है—

१—गौ = पृथिवी

'गौः' इति पृथिव्या नामधेयम्—

(क) यद् दूरंगता भवति,

(ख) यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति [गातेर्वा ओकारो नामकरणः]

अर्थात् 'गौः' यह पृथिवी का नाम है।

(क) क्योंकि दूर तक गई है।

(ख) क्योंकि इसमें प्राणी गति करते हैं।

२—गाय

अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव।

और इसी कारण से यह गाय का वाचक भी होता है।

३—गौ से बनने वाले पदार्थ

अथाप्यस्यां तद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति।

(क) गोभिः श्रीणीत मत्सर इति पयसः (दूध)

(ख) अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि 'इत्यधिषवणचर्मणि (गोचर्म)

(ग) अथापि चर्म च श्लेष्मा च (गोचर्म, गोश्लेष्मा) 'गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्व' इति रथस्तुतौ।

(घ) अथापि स्नाव च श्लेष्मा च (गोस्नाव तथा गोश्लेष्मा) 'गोभिः सन्नद्धः पतति प्रसूतः' इति इषुस्तुतौ।

(ङ) ज्यापि गौरुच्यते, गव्या चेत्ताद्धितम्। अथ चेन्न गव्या, गमयति इषून् इति। 'वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद्गौः....' (ज्या = प्रत्यंचा, धनुष की डोरी) गौ का अर्थ 'ज्या'

भी होता है, चाहे वह 'गौ' से बनी हो, या न बनी हो, तो जो 'तीरों को गति दे' उसका नाम गौ = ज्या है।

(च) अथापि 'इषु' नामेह भवत्येतस्मादेव (इषु = तीर) और इसी कारण से यहां 'तीर' का नाम भी गौ होता है।

४—आदित्य = सूर्य्य

आदित्योपि गौरुच्यते", आदित्य को भी 'गौ' कहते हैं। 'गौरादित्यो भवति' गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे। आदित्य का नाम 'गौ' है, क्योंकि यह रसों को हरकत देता है अथवा अन्तरिक्ष में गति करता है।

५—सुषुम्णा रश्मि (सूर्य्य की जो रश्मि चन्द्र में प्रकाश करती है)

६—'सर्वेपि रश्मयो गाव उच्यन्ते'

(सभी किरणों का नाम 'गौ' है)

७—माध्यमिक वाणी

"गोः = एतस्या माध्यमिकायाः वाचः" (अ–६ गौ से = इस माध्यमिक वाणी से)

गौः = 'वागेषा माध्यमिका" अ० ११। खं० ४२

८—यज्ञपूरिका

'धर्मधुगिति याज्ञिकाः' (याज्ञिक गौ का अर्थ यज्ञपूरिका करते हैं)

टि०—हमारा विचार है कि (ङ) वाक्य का 'गव्या चेत्ताद्धितमथ चेन्न गव्या' यह वचन 'अथाप्यस्यां—' ३ अर्थ के मूल वाक्य से लेकर क-ख-ग-घ-ङ सब वाक्यों का एक शेष है। अर्थात् गौ का एक अर्थ दूध भी है चाहे वह गौ का हो या न हो, इत्यादि। इसका एक उदाहरण 'आज्य' = घृत है। आज्य का योगार्थ तो अज = बकरी का विकार है, किन्तु सब घृतों के लिए प्रयुक्त होता है।

९—उषाएं

'गावो गमनात्'

'उषा' को गौ कहते हैं, क्योंकि वह सूर्य्य से पूर्व आती है और सूर्य्योदय पर चली जाती है।

यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर "गौः" शब्द का प्रयोग आया है। श्री महीधर और श्री उव्वट ने जहां जहां 'गाय' अर्थ किया उसको छोड़ कर शेष स्थलों का तत्कर्तृक अर्थ नीचे दिया जाता है:—

	उव्वट	महीधर
गौः (३–६)	गन्ता	गच्छतीति गौः, यज्ञनिष्पत्तये तत्तद्यजमान गृहेषु गन्ता। गमे र्डो प्रत्ययः (उ० २–६६)
गोः (२३-४८)	गवा हि यज्ञो धार्यते, स जगतः कारणं भव- तीत्येतदभिप्रायम्।	—गोः धेनोः—
	पृथिवी वा गौः	
(२९-१८)	गन्तुर्मण्डलस्य	गोः सूर्य्यस्य मण्डले 'गौर्नाऽऽदित्ये बलीवर्दे' इत्यभिधानात् गौरादित्यः
गोभिः (८-१५)	वाग्भिः गवादिभिः पशुभिः	वाग्भिर्गवादिपशुभिर्वा
(२०-३७)	गोप्रभृतिपशु सम्बन्धिनीभिः,	पशुसंबंधिनीभिः
(२०-६६)	गोप्रभृतिभि पशुभिः	गोप्रभृतिपशुभिः

(२९-४८) गोविकारैः श्लेष्मस्नायुभिः, गोविकारैः स्नायुभिः

(२९-५२) (गोविकारैः) श्लेष्म- गोविकारैश्चर्मभिः
चर्मभिः

(२९-५३) गोविकारैः स्नायुश्लेष किरणैः यद्वा गोभिः चर्मभिः
चर्मभिः

गोषु (१२-१०५) मदीयधेन्वादिपशुषु

इन महानुभावों के अनुसार 'गौ' शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं—

१—गन्ता = जाने वाला
२—पृथिवी
३—सूर्य्यमण्डल
४—वाणी
५—गवादिपशुसंबन्धी
६—गोविकार—श्लेष्मा, चर्म, स्नायु
७—गवादि पशु
८—गौ
९—किरण

यह ठीक है, कि महीधरजी तथा उव्वटजी ने अधिक स्थलों में 'गौ' का अर्थ गौ पशु ही किया है, किन्तु ऊपर लिखे स्थलों में उन्होंने दूसरे अर्थों को भी स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि 'गौ' शब्द का अर्थ केवल गौ पशु ही नहीं अन्य पदार्थ भी हैं। और यह तभी संभव हो सकता है, जब शब्दार्थ में यौगिकता स्वीकार की जाए।

इस सूक्त में गो-पदार्थ

जब इस प्रकार से यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि गोशब्द अनेकार्थक है, तब प्रश्न होता है, कि इस सूक्त में 'गौ' शब्द का क्या अर्थ है ?

इसका समाधान करने से पूर्व उसमें सहायक कुछ बातों का जाना लेना आवश्यक है—

अभिधा 'गौ' बड़ा भोला पशु है। 'गौ' का दूध बहुत ही स्वादिष्ट एवं स्वास्थ्यप्रद होता है। इत्यादि वाक्यों में देखें तो 'गौ' पद का अर्थ एक पशु है। जिसके पर्य्याय 'धेनु' आदि शब्द हैं। यह अभिधा = शक्तिवृत्ति है।

लक्षणा श्रीमती जानकीदेवी तो निरी 'गौ' है क्या कोई मूर्ख से मूर्ख मनुष्य यह कहने का साहस कर सकता है कि इस वाक्य में 'गौ' शब्द का अर्थ दूध देने वाला, सब का परिचित पशु है। यहां तो 'गौ' का अर्थ 'भोली, सरला' स्वीकार करना होगा। अर्थात् 'श्रीमती जानकीदेवी तो अत्यन्त भोली है।' प्रतिदिन हम ऐसे वाक्यों का प्रयोग करते हैं, संसार की समस्त भाषाओं में ऐसे प्रयोग आते हैं और बहुतायत से। तब फिर यह प्रश्न होता है, कि ऐसा अर्थ कैसे हो गया। 'गौ' शब्द तो पशुवाचक ही रूढ है [यद्यपि वेद में सब नाम यौगिक माने जाते हैं, किन्तु दुराग्रहवश या किसी अन्य संस्कार के कारण जो वेद में प्रयुक्त नामशब्दों को रूढ ही मानते हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि जब लोक में, साधारण बोलचाल में भी शब्द अपने मुख्य अर्थ को छोड़ देता है, तो 'वेद' में ही ऐसा हठ क्यों ?] फिर यहां 'भोली' अर्थ कैसे हो गया ? मानना पड़ेगा, कि मुख्यार्थ यहां रुक गया है, बाधित हो गया है। 'गौ' के किसी गुण को, जो उसमें प्रधान है, किसी दूसरी वस्तु में देख कर गुणगुणी के अभिन्न व्यपदेश अथवा किसी अन्य हेतु से उस दूसरे पदार्थ को भी 'गौ' कह दिया जाता है। 'गौ' साधारणतः भोली, सरला मानी जाती है, अतः जो कोई सरल हो, भोला हो, उसे भी 'गौ' कह देते हैं। इसी रीति से उल्लू, गदहा आदि शब्दों के अर्थ मूर्ख आदि होते हैं।

इसका नाम गौणी वृत्ति या लक्षणा है। इसके दो भेद होते हैं, एक जहत्स्वार्था, दूसरी अजहत्स्वार्था। इन दोनों के लक्षण उदाहरण देने की यहां कोई आवश्यकता नहीं।

यह अर्थ धींगामुश्ती से नहीं किए जाते, अपितु ऐसा करते समय प्रकरणादि का विचार, वक्ता के अभिप्राय का विमर्श तथा लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ का कुछ न कुछ संपर्क होना आवश्यक होता है।

रूढ़ यौगिक योगरूढ़

जब आपने स्वीकार कर लिया, कि अवस्था विशेष में लक्षणावृत्ति का भी आश्रय लेना अनिवार्य्य हो जाता है, तो फिर 'गौ' को 'गाय' अर्थ में रूढ़ मान लेने पर अर्थान्तर कल्पना का अवकाश मिल ही सकता है। प्रसंग से यहां यह बता देना उचित प्रतीत होता है, कि समस्त नामपद रूढ, यौगिक, योगरूढ़ इन तीन भेदों में विभक्त हैं।

विना किसी युक्ति के जहां किसी वस्तु का कोई नाम रख दिया गया हो अर्थात् जहां शब्द के धातु, प्रत्ययादि के अनुसार अर्थ कल्पना न किए गए हों, उसे रूढ़ कहते हैं, जैसे डित्थ = मिट्टी का ढेला।

जहां धातु और प्रत्यय के अर्थानुसार शब्द के अर्थों की कल्पना हो, उसे 'यौगिक' कहते हैं। जैसे 'विषघ्न' = विषनाशक, जो भी वस्तु विष का नाश करे उसे 'विषघ्न' कहेंगे।

यहां यह बताना अनुचित न होगा, कि वेद में समस्त नामपद 'यौगिक' या 'योगरूढ़' होते हैं, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

तीसरा योगरूढ़ जो धातु, प्रत्यय का अनुसरण करता हुआ भी किसी एक पदार्थ विशेष में नियुक्त कर दिया जाए। जैसे—नीरज। जल में जो वस्तु उत्पन्न हो, उसका नाम नीरज होना चाहिए, किन्तु जल में उत्पन्न होने वाली सब वस्तुओं को 'नीरज' नहीं कहते, केवल 'कमल' को ही 'नीरज' कहते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि वेद के सब शब्द यौगिक या योग-रूढ़ होते हैं। जब यह सिद्धान्त मान लिया, तब यह समझना कठिन

नहीं रहता, कि 'गौ' शब्द निरुक्त, निघण्टु आदि में अनेक अर्थों का वाचक क्यों माना गया है।

'गौ' शब्द 'गम्' धातु से बनता है। 'गम्' धातु के अर्थ जानना, जनाना, जाना, गति देना, प्राप्त होना, प्राप्त करना आदि होते हैं, तो जो जाने, जनाए, जाए, गति दे, प्राप्त हो, प्राप्त करे, प्राप्त कराए इत्यादि, उसका नाम गौ होगा। विज्ञ पाठक देख सकते हैं 'गौ' के अभिधेयों के साथ 'गम्' के इन अर्थों में से किसी न किसी का अवश्य ही संबन्ध है।

'अर्थ' विचार प्रसंग में आकांक्षा आदि का निरूपण करना भी उचित होने से उसका भी यहां उल्लेख कर देते हैं—

आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य

जब पद या पदसमूह के बिना दूसरे पद या पदसमूह का अर्थ बोध न हो, उसे 'आकांक्षा' कहते हैं, क्योंकि 'किसी विषय पर वक्ता या वाक्यस्थ पदों की आकांक्षा परस्पर होती है'।

योग्यता—'जिससे जो हो सके' जैसे जल से सींचना। 'वह्निना सिंचति' वाक्य असमर्थ है, क्योंकि आग से सींचना नहीं हो सकता।

'जिस पद के साथ जिसका संबन्ध हो, उसी पद के समीप उस पद को लिखना वा बोलना' आसत्ति है।

जिस अर्थ को लक्ष्य में रख कर वक्ता ने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसे 'तात्पर्य' कहते हैं।

वाक्यार्थ में इन चार की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

अब इस सामग्री के सहारे सूक्तगत 'गौ' पद का अर्थ निर्धारण करना सरल हो जाता है। जहां जहां 'गौ' पद प्रयुक्त हुआ है, उन सारे वाक्यों पर विचार करना चाहिए।

मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्' (१)

स ब्राह्मणस्य गामद्यात् (२)
आविष्टिता .. ..
स ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ (३)
ये सहस्रम .. ....
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वै तद्व्याः पराभवन् ॥ १० ॥
गौरेव तान् हन्यमाना.......
ये केसरप्रबन्धायाः ....॥ ११ ॥

११ वें मन्त्र को छोड़ शेष चार स्थलों में 'गौ' के साथ ब्राह्मण पद षष्ठी विभक्ति में अवश्य आया है। अर्थात् इस सूक्त में 'ब्राह्मण की गौ' के संबन्ध में विचार है।

१ ले मन्त्र में ब्राह्मण की गौ को 'अनाद्या' न खाने योग्य, न खा सकी जाने वाली कहा है।

२ रे में ब्राह्मण की गौ को खाने वाले को अक्षद्रुग्ध आदि कहा है।

३ रे में ब्राह्मण की अनाद्या गौ को भयंकर विषैली सर्पिणी से उपमा दी है।

१० वें में 'ब्राह्मण की गौ' को खाने वालों की अवश्य हार का वर्णन है।

११ वें में मारी जाती ब्राह्मण की गौ मारने वाले को मार देती है। और 'केसरप्रबन्धा' गौ का विशेषण दिया है। इन सारे उद्धरणों में 'ब्राह्मण' की गौ का ही माहात्म्य है, अब जब तक 'ब्राह्मण' का अर्थ ज्ञात न हो, 'गौ' का यह माहात्म्य समझ में आ ही नहीं सकता, वेद में गौ को अघ्न्या = न मारने योग्य कहा गया है। किन्तु वहां यह नहीं कहा गया, कि ब्राह्मण की गौ अघ्न्या है और दूसरों की हन्तव्या = मारने योग्य है। अर्थात् गोमात्र की हिंसा का निषेध है। इससे भी प्रतीत होता है, कि यहां 'गौ' का अर्थ 'गाय' न होकर कुछ और ही है।

फिर इसमें एक बात और कही है, कि ब्राह्मण की गौ मारी जाती हुई मारने वालों को मार देती है, ब्राह्मण की गौ खाने वाले हज़ारों लाखों की संख्या में होते हुए भी हार जाते हैं। वैतहव्य ब्राह्मण की गौ खाते हैं। इन सबको विचार कर देखें, तो आपाततः यह कुछ असंगत सी वार्त्ता प्रतीत होती है। क्योंकि आज अनेक ब्राह्मणों की गौएं मारी जा रही हैं, किन्तु वे मारने वाले का घात नहीं करतीं। आज गौ खाने वालों का दौर दौरा है। 'बुद्धि पूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'। वेद में बुद्धिविरुद्ध कोई वाक्य नहीं, इस सिद्धान्त के होते अवश्य ही मानना पड़ेगा, कि यहां 'ब्राह्मण', 'गौ' और 'खाना' पदों का लोकप्रसिद्ध अर्थ नहीं, कोई विलक्षण अर्थ है।

केवल 'ब्रह्मगौ' को ही नहीं, इस सूक्त में 'ब्राह्मण' को भी अवध्य कहा है। जैसे—

यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव (४)
ब्राह्मणो न हिंसितव्यः (६)
यो ब्राह्मणं हिनस्ति देवबन्धुं (१३)

४ थे मन्त्र में कहा है, जो ब्राह्मण को अन्न मानता है। वह घोला हुआ बिष पीता है, तेजोरहित हो जाता है।

६ ठे में ब्राह्मण को स्पष्ट ही अवध्य कहा है, शरीर अग्नि से इसको उपमा दी है।

१३ वें में ब्राह्मण को 'देवबन्धु' कहा है। ब्राह्मण-हत्यारे को वंशनाश का भय दिखलाया है।

थोड़ा सा भी विचार करें, तो यह सूक्त एक बात बता रहा है कि ब्राह्मण की गौ को मारना या उसे 'खाना' और ब्राह्मण को मारना या ब्राह्मण को खाना एक ही बात है। अर्थात् ब्राह्मण की गौ और ब्राह्मण अभिन्न से हैं।

क्या कोई समय था, जब ब्राह्मण खाए जाते थे ? यदि नहीं, तो फिर यह ब्राह्मण कौन है ?

ब्राह्मण

इसके लिए हमें दूर जाने या अन्यत्र खोजने की विशेष आवश्यकता नहीं। इसी सूक्त में कुछ आभास मिल जाता है।

१३ वें मन्त्र में ब्राह्मण को देवबन्धु तथा १४ वें में 'वेधाः' कहा है।

१३ वें में देवबन्धु ब्राह्मण की हिंसा का निषेध होने से सर्वत्र ब्राह्मण-हिंसानिषेध का अर्थ देवबन्धु की हिंसा का निषेध समझना चाहिए।

देवबन्धु कहने से किसी कुल विशेष में उत्पन्न होने वाला ब्राह्मण नहीं, अपितु जो देवों का बन्धु हो, वह ब्राह्मण है।

देवबन्धु कौन है ? देवबन्धुत्व कैसे प्राप्त किया जाता है ? इसका विचार करना चाहिए।

देवबन्धु का अर्थ देव या देवों का बन्धु होता है।

वेद में प्रार्थना-प्रसंग में आता है—

"स नो बन्धुर्जनिता...... "

परमेश्वर हमारा बन्धु, उत्पादक है। जो पुरुष परमात्मा से सख्य-बन्धुत्व स्थापित कर सका हो, उसे देवबन्धु कहते हैं। 'समानशील-व्यसनेषु सख्यम्' एक से आचार विचार वालों की मैत्री हुआ करती है। जो परमात्मा से बन्धुत्व स्थापन करना चाहता है, उसे परमात्मा के गुण-कर्मादि यथासंभव अपने में पैदा करने होंगे। परमात्मा के जिन गुणों का हमें थोड़ा सा भान हो पाता है, उन्हें हमें अपने अन्दर समाविष्ट करना होगा।

१—हम देखते हैं, परमात्मा ने अपना समस्त ऐश्वर्य [प्रकृति तथा तत्कार्य सब प्रभु की विभूति है] जीवों को अर्पण कर दिया है, उससे

वह स्वयं कुछ भी स्वार्थसाधन नहीं करता, तो परमात्मा का बन्धु होने के लिए यह आवश्यक है, कि हम अपनी सारी शक्ति, समस्त विभूति लोककल्याणार्थ उत्सर्ग कर दें।

२—जब जब मनुष्य के हृदय में पापवासना उत्पन्न होने लगती है, तब तब अन्दर से उसके वारण करने के लिए एक ध्वनि निकलती है। पाप में पैर रखने वाला चाहे आस्तिक हो अथवा नास्तिक, उस निषेध का आदर करे या न करे, वह ध्वनि अवश्य उत्पन्न होती है। ऋषि लोग उसे परमात्मा का शब्द कहते हैं। जो पुरुष भगवान् से सख्य करना चाहे, उसे चाहिए, कि 'अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराजयम्' बिना पूछे उसे हित का उपदेश कर दे, जिसका अकल्याण न चाहे। वह इस बात की परवाह नहीं करता, कि लोग उसके वचन को सुनते हैं या नहीं। उसे तो कर्तव्य की प्रेरणा है। वह सब भूतों = प्राणियों की कल्याणकामना से राजा प्रजा सबको हित की यथार्थ बात विना लाग लपेट के कह देता है। अपने बन्धु भगवान् की भांति वह सबका भला चाहता है।

और गुणों का विचार न भी करें, तो देवबन्धु बनने के लिए इन दो गुणों का धारण करना तो अनिवार्य्य है। इन गुणों के धारण करने के लिए किसी कुलविशेष या देशविशेष में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं। 'हरि को भजे सो हरि का होय' ही अपेक्षित है। स्वयं ब्राह्मण शब्द का अर्थ भी ऐसा ही है–'ब्रह्मण अयं ब्राह्मणः' जो ब्रह्म का परमेश्वर का हो, वह ब्राह्मण।

इस प्रकार देखें, तो देवबन्धु और ब्राह्मण एक पदार्थ के वाचक हैं। ब्राह्मण के लिए एक शब्द इस सूक्त में 'वेधाः' प्रयुक्त हुआ है। 'वेधाः' निघण्टु में 'मेधावी' के नामों में पड़ा है। मेधावी धारणावती बुद्धि

वाले को कहते हैं। मेधावी होने के लिए तो किसी कुल का कोई बन्धन नहीं।

निष्कर्ष यह कि निस्स्वार्थभाव से समस्त प्राणियों के हित करने वाले मनुष्य को 'ब्राह्मण' कहते हैं।

अब इस प्रकार सूक्त का निष्कृष्ट अर्थ बनता है—ब्राह्मण = लोक-हितकारी मनुष्य की गौ [यदि गौ का अर्थ गाय पशु लिया जाए] को खाने वाले राजा का नाश होता है। प्रश्न होता है, केवल 'गौ' क्यों ? बकरी, भैंस आदि क्यों नहीं। इस वास्ते अर्थ में यौक्तिकता लाने के लिए या तो 'गौ' को उपलक्षण मान कर उसका अर्थ गौ, भैंस, बकरी और ज़रा उससे आगे बढ़ कर उसकी अन्य स्थावर जंगम समस्त संपत्ति अर्थ लेना पड़ेगा, अथवा यौगिकता का आश्रय लेकर 'गौ' के पूर्व कहे अर्थों में से किसी को स्वीकारना होगा, उसके लिए भी कोई युक्ति चाहिए। इस समस्या का समाधान हो सकता है, यदि हमें 'अद' = खाना का अर्थ ज्ञात हो जाए।

अद् धातु का अर्थ

'अद्' धातु का साधारण अर्थ 'खाना' किया जाता है। 'खाना' से साधारण तात्पर्य मुख, दांतों आदि की सहायता से किसी वस्तु को पेट के अन्दर ले जाना है। लेकिन लोक में हम इससे भिन्न अर्थों में भी 'खाना' धातु का प्रयोग देखते हैं जैसे—

वह रिशवत खाता है।

उस ने मार खाई।

वह पड़ोसी की जायदाद खा गया।

वह अपनी स्त्री की जान खा गया।

मेरा सिर मत खाओ इत्यादि।

क्या कोई कह सकता है, कि यहां 'खाना' का अर्थ साधारण है। मानना पड़ता है कि यहां साधारण अर्थ से भिन्न अर्थ है। इसी संस्कृत की 'अद्' धातु का अर्थ भी साधारण के अतिरिक्त कुछ और यदि स्वीकार कर लिया जाए, तो असंगति दोष से बचाव हो सकता है। फिर यह समझ में आजाता है कि ब्राह्मण = लोकसेवक की गौ = संपत्ति को खाना = छीनना राजा के लिए अनर्थकारी है।

यह अर्थ संगत तो है, किन्तु सूक्त में एक बात कही है, वह कदाचित् इस अर्थ के मानने से नहीं बनती दीखती। 'दसवें मन्त्र में कहा है कि वैतहव्य चाहे सैकड़ों हज़ारों हों, चाहे लाखों पर राज्य करने वाले हों, ब्राह्मण की गौ खा कर हार जाते हैं।'

केवल अपनी संपत्ति की रक्षा के लिए यदि ब्राह्मण खड़ा हो, तो कदाचित् राजा का इतना भयंकर परिणाम न हो। इस वास्ते यहां 'गौ' को उपलक्षण न मान कर उसका 'वणी' अर्थ स्वीकार करें और 'खाना' का अर्थ 'दबाना' निरोध करना, रोकना, मानें, तो यह आपत्ति हट जाती है। अर्थात् 'ब्राह्मण की गौ = वाणी को रोक कर' दबाकर लाखों पर राज्य करने वाले राजाओं का भी नाश हो जाता है। यह पहले कह चुके हैं, कि ब्राह्मण निस्स्वार्थ भाव से लोकसेवा करता है। वह सब की कल्याण कामना करता है। उस शुभ कामना से प्रेरित हुआ वह राजा प्रजा सब को खरी खरी सुनाता है। राजा लोग अभिमान की मस्ती में ऐसे निस्स्वार्थ महापुरुष की वाणी का तिरस्कार करते हैं, उसकी चेतावनी को सुनते नहीं। उसे पकड़ कर जेल में डाल देते हैं। मानो उस की चेतावनी—अन्तिम चेतावनी को पचा जाने का यत्न करते हैं। यही ब्राह्मण का या ब्राह्मण की गौ का खा जाना है। ब्राह्मण प्रजा को शान्त रखता है। उसे उपद्रवों से हटाता है। प्रजा के औद्धत्य को नियन्त्रण में रखता है। अब ब्राह्मण को खा डाला गया है। प्रजा को शान्त करने वाला कोई रहा

नहीं। प्रजा में भयंकर क्षोभ उत्पन्न होता है। वह राजा से टक्कर लेती है। प्रजा तो राजा की प्रकृति = मूल है। मूल के हिलने से, उखड़ने से फिर स्थिति असंभव हो जाती है। राजा के नाश के साथ ही राष्ट्र की भी अतुलनीय हानि होती है। पारस्परिक गृहयुद्ध के कारण क्षत्रशक्ति नष्ट हो जाती है। व्यवस्था उलट जाती है। राज्य और राजा दोनों का हित इसी में है कि वे ब्राह्मण की तथा ब्राह्मण की गौ की सतत रक्षा करें।

वैतहव्य

प्रसंग से यहां 'वैतहव्य' के अर्थ का भी विचार आवश्यक है।

वीतहव्य से 'वैतहव्य' शब्द बनता है। जैसे यज्ञ से प्राज्ञ शब्द बनता है। प्रज्ञ और प्राज्ञ दोनों शब्दों का अर्थ एक है। वैसे ही वीतहव्य तथा वैतहव्य का अर्थ भी अभिन्न है।

वीत = खर्च दिया है, हव्य = हवि, प्रजा से प्राप्त करके जिसने, वह वीतहव्य कहलाता है। वीतहव्य ही वैतहव्य है। प्रजा राजा को कर देती है वह कर प्रजा के हितसाधक कार्यों में व्यय किया जाना चाहिए, किन्तु विलासी राजा या प्रमादी राजसंस्था उसका उचित उपयोग न कर विलासिता में या प्रजाविघातक कार्यों में व्यय करता या करती है। वह अमानत में ख़यानत का मुजरिम बनता है। विलासी की विलासलालसा तो समाप्त होने में आती नहीं वह तो उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। परिणाम यह होता है कि राजा का कोषागार ख़ाली होने लगता है। वह उसे भरने के लिए प्रजा पर नित्य नए नए कर लगाता है। प्रजा इन अनुचित करों से ऊब उठती है। तब जो कुछ होता है, वह इस सूक्त में मनोहर रीति से वर्णित है।

राजा

इस सूक्त में किसी एक व्यक्ति को राजा नहीं माना गया। अपितु राज्य करने वाला चाहे एक हो अथवा अनेक हों—अर्थात् संस्था हो—वह राजा है। इसी वास्ते दसवें मन्त्र में 'ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत' कहा है। यह वाक्य तभी संगत हो सकता है जब हम समूह द्वारा राज्यव्यवस्था मानें।

प्रजाद्रोही राजा का परिणाम वर्णन करते वेद ने कई विलक्षण तत्व इस सूक्त में निरूपण किए हैं। जिनमें से कुछ एक का यहां दिग्दर्शन कराया जाता है।

१—पाप की उत्पत्ति कैसे होती है।

२—ब्राह्मण अवध्य है।

३—ब्राह्मण का अस्त्र अमोघ होता है।

४—समुदाय का राज्य अर्थात् राजसभा।

५—धर्म्मनाश से नाशक का नाश इत्यादि॥

पाठक इस सूक्त का मनन करें और वैदिक तत्वों को धारण कर अपना हित साधें। ओं शम्॥

वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

———

ओ३म्

ब्रह्मवाणि अबाध्य है

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम ॥ १ ॥

हे (नृपते) राजन् ! (ते देवाः) उन देवों ने, राजा चुनने वाले विद्वानों ने, सर्वत्र प्रसिद्ध पारमात्मिक शक्तियों ने (एतां) इस, आगे कही जाने वाली ब्रह्मगवी = लोकप्रिय सर्वहितकारी निस्स्वार्थ ब्राह्मण की वाणी को (अत्तवे) खाने के लिए, दबाने के लिए (तुभ्यं) तुझे (न) नहीं (अददुः) दिया । अतएव हे (राजन्य) क्षत्रियकुलभूषण ! (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (अनाद्याम्) अभक्षणीय, अबाध्य, न खाई जा सकने वाली, न रोकी जाने वाली (गां) गौ = वाणी को (मा) मत (जिघत्सः) खाने की, समाप्त करने की इच्छा कर ।

राजा प्रजापालन करने के लिए होता है । निष्पक्ष होकर न्याय करना आदि राजा का प्रधान धर्म्म है । मनुष्यता और अल्पज्ञता का सदा सहवास है फलतः भूल चूक होना स्वाभाविक ही है । इस दोष को दूर करने के लिए राजा विद्वानों का—स्वार्थशून्य ब्राह्मणों का—आश्रय लेता है । प्रजाहितरत, स्वार्थविरत, तपस्वी ब्राह्मण राजा को सदा प्रजाहित की प्रेरणा करते रहते हैं। किन्तु बहुधा राजा उच्छृङ्खल हो जाते हैं, वे भूल जाते हैं, कि उनका उद्गम = मूल प्रजा ही है । प्रजा का दूसरा नाम प्रकृति है । जो गंभीर राजनैतिक सिद्धान्त का द्योतक है । इस भूल के कारण वह यथाविधि धर्म्मपालन नहीं करता । प्रजापालन के स्थान में प्रजा-पीड़न आरंभ कर देता है । उसको इस कुकर्म्म से हटाने के लिए कोई तपस्वी महात्मा अग्रसर होते हैं । वह तपस्वी मानो प्रजा की पुकार का

मूर्त्तस्वरूप होता है। राजा प्रमाद के भयंकर गढ़े में गिरा है, उसे हिताहित सूझता नहीं, वह उसकी अवहेलना कर देता है। तपस्वी फिर बोलता है। राजा या राजशक्ति बौखला जाती है। वह उस तपस्वी को पकड़ बन्दीखाने में डाल देती है या उसको बोलने से रोकने के लिए कानून की किसी धारा का दुरुपयोग करती है। ऐसे राजा को वेद उपदेश करता है। 'भगवत्कृपा से तुझे जो गौ दी गई है, वह खाने के लिए नहीं। ब्राह्मण की गौ खाई ही नहीं जा सकती'। गौ का अर्थ वाणी है, इसको दुहराने की आवश्यकता नहीं। 'वाणी का खाना' वाणी का कार्य्य बन्द करा देना है। इसे खुला छोड़ रखने में ही कल्याण है। राजा तथा प्रजा का भला है। यह रोकी हुई अधिक उग्र हो जाती है। यह बात आगे सूक्त में स्पष्ट होगी।

मन्त्र में आए 'देवाः' शब्द विचारने योग्य है। कौन से देवता राजा को यह गौ देते हैं। अथर्ववेद में राजा के चुनाव का वर्णन आता है।

'त्वां विशो वृणतां राज्याय', अ० ३–४–२ ॥
ये राजानो राजकृतः सूतग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥
अथर्ववेद ३। ५। ७॥

प्रजाएं राजा को चुनती हैं। सूत और ग्रामणी आदि राजकृत = Kingmaker हैं। अर्थात् साधारण प्रजा के नेता राजा चुनते हैं, इन्हें इस मन्त्र में देव और अ० ३–५–७ में 'राजा' कहा गया है। देव का अर्थ दीप्ति वाला और राजा का अर्थ भी दीप्ति वाला है। अर्थात् प्रकरणानुसार देव और राजा पर्य्याय शब्द हैं। राजा को राज्य देते समय प्रजावर्ग अपने बहुत से अधिकार राजा को दे देते हैं, इस वास्ते उनको 'देव' कहा गया है, क्योंकि देव का अर्थ 'दाता, प्रकाशक और दीप्ति वाला' होता है।

अथवा 'देव' शब्द का अर्थ प्रभु की नाना शक्तियां हैं, जो राज्य-कार्यसंचालन में सहायक होती हैं। हमारे शास्त्रों में राजा को अग्नि आदि शक्तियों से युक्त कहा गया है। मृत्यु दण्ड देने से राजा यम = मारकशक्ति का प्रतिनिधि है, इस प्रकार से अन्य शक्तियों का विचार किया जा सकता है। इन शक्तियों ने राजा को राज्य इस वास्ते नहीं दिया, कि वह ब्राह्मण की जबानबन्दी करे।

पापी राजा ब्राह्मण की आवाज़ को दबाता है।

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः।
स ब्राह्मणस्य गामद्याद् अद्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥

जो (अक्षद्रुग्धः) अजितेन्द्रिय, अत एव (आत्मपराजितः) स्वयं पराजित अथवा अपने उपकरणों से हराया हुआ (पापः) पापी (राजन्यः) राजा है, और जो समझता है कि (अद्य) आज तो (जीवानि) जी लूं या जीता हूँ, (श्वः) कल (मा) नहीं, (सः) ऐसा (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गां) गौ = वाणी को (अद्यात्) खाता है = रोकता है।

कौन राजा ऐसा घोर कृत्य करने पर उतारू होता है ? वेद कहता है 'आत्मपराजित' जो अपने आप हारा हुआ है या जिसके उपकरणों ने उसे हरा दिया है। प्रश्न पैदा होता है राजा आत्मपराजित कब होता है ? प्रभु कहते हैं—'जब वह पापी होता है।' फिर जिज्ञासा होती है—'पापी कब होता है ?' भगवान् कहते हैं—'जब वह अक्षद्रुग्ध = अजितेन्द्रिय होता है।'

ऐसा राजा सदा संदिग्ध और शंकित रहता है, उसे डर रहता है, न जाने कब मेरा घात हो जाए, अतः वह कहता है 'अद्य जीवानि माश्वः'

इस मन्त्र में राजनैतिक सिद्धान्त के अतिरिक्त मनोरम आत्मिक तत्व का प्रतिपादन है। पाप का कारण एवं कार्य्य दोनों अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु बहुत स्पष्ट रीति से कहे गए हैं। पाप की उत्पत्ति कैसे होती है, इस का समाधान करने के लिए कइयों ने परमेश्वर के साथ शैतान—प्रभु की भांति, अपितु उससे भी अधिक शक्तिशाली तत्व—की कल्पना की है। वेद इन सब से निराला उत्तम और यथार्थ कारण बतलाता है। अक्ष-द्रोह—इन्द्रियों की बग़ावत पाप का कारण है। इन्द्रियों पर शासन करने में ढील की नहीं कि यह उच्छृङ्खल हुई नहीं। प्रबल विषय इन्द्रियों को सदा अपहरण करते रहते हैं। विषय भी प्राकृतिक हैं, इन्द्रियें भी प्रकृति का विकार हैं। दोनों का मूल एक है। इस भाईचारे के कारण शीघ्र ही इनका मेल होता है। इसका नाम है काम। जब किसी कारण से अभि-लषित विषय की संप्राप्ति नहीं होती तो पैदा होता है क्रोध, भगवद्गीता में का "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः" वाक्य इसी अक्षद्रोह की व्याख्या है। सत्व में तो शान्ति होती है। इस वास्ते गीता में रजो गुण को कारण कहा है। वेद का अक्षद्रुग्ध अधिक व्यापक है और सब की समझ में आ जाने वाली वस्तु का ज्ञापक है। अक्षद्रुग्ध में एक और रहस्य भी है, अक्ष तो करण हैं, परवश हैं, प्रजा हैं, ये जब द्रोह करने लगे, तो भयंकर गड़बड़ हो जाती है। तब तो उसे (आत्मा या राजाको) हराने के लिए किसी बाह्य शक्ति द्वारा आक्रमण की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं हारा हुआ है। प्रजा ही तो राजा के अक्ष = इन्द्रिय हैं, राजा की करतूत के कारण वे विमुख हैं, राजा आत्मपराजित हो गया है। जिस राजा की प्रजा बिगड़ गई, विद्रोही हो गई, उसका जीवन सन्देहास्पद हो जाता है, उसे हर घड़ी प्राणों का खटका लगा रहता है, क्या दय-नीय दशा है।

इस वास्ते राजा को चाहिए कि अपने मूल = प्रजा को अथवा अपने

करण = साधन को बिगड़ने न दे। आर्य्य शास्त्रों में राजा को संयम का उपदेश किया गया है। असंयमी राजा का ह्रास एवं नाश अवश्यंभावी है। संसार की कोई शक्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकती। दुश्चरित राजा पर से प्रजा का विश्वास उठ जाता है। विश्वास के कारण राजा का प्रभाव Prestige रहता है। जब तक प्रभाव रहता है, तभी तक राजत्व रहता है। प्रभाव के नाश से राजशक्ति का लोप दुर्निवार है।

राजा की भांति साधारण जन को भी सदाचारी होने की आवश्यकता है। प्रभु की शक्तियों का सदुपयोग करना ही ऐहिक और पारलौकिक कल्याण का साधन है।

रोकने से द्विजजिह्वा द्विजिह्वा हो जाता है

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्म्मणा।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥

हे (राजन्य) क्षत्रियकुलजात राजन्! जब (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (सा) वह मंगलमयी वाणी (तृष्टा) प्यासी होती है अर्थात् बोलने की लालसा वाली होती है किन्तु रोक दी जाती है, दबा दी जाती है, तब वह (चर्मणा) चमड़े से (आविष्टिता) ढकी हुई (पृदाकूः + इव) सर्पिणी की भांति (अघविषा) भयंकर विषवाली हो जाती है, अतः (एषा) यह ब्राह्मणवाणी (अनाद्या) अभक्ष्य = अबाध्य है।

ब्राह्मण—सचमुच ब्राह्मण, आजकल का नाममात्र का ब्रह्मबन्धु नहीं—अत्यन्त सरल, शान्त, सौम्यस्वभाव वाला होता है। उसकी वाणी तो अत्यन्त कोमल, मधुर रस से सनी होती है। संसारसंताप से सन्तप्त प्राणियों के लिए, उसकी वाणी अमृतवर्षा का कार्य्य करती है, किन्तु वेद यहां कह रहा है, कि एक समय ऐसा भी आता है, जब ब्राह्मण की वाणी

सर्पिणी बन जाती है, सीधी सादी सर्पिणी नहीं, अपितु भयंकर विषैली सर्पिणी ! वह अवसर भी वेद ने स्वयं बता दिया है। जब वह तृष्टा = प्यासी होती है।

विचारना चाहिए, वाणी की प्यास क्या है। प्रत्येक इन्द्रिय की अपनी अपनी प्यास होती है। ग्राह्य विषय की ओर जब इन्द्रिय को अधिक आकर्षण हो, जब वह विषय इतना प्रबल हो, कि इन्द्रिय को उधर से हटाने में बेचैनी मालूम हो, विकलता प्रतीत होने लगे, तब वह इन्द्रिय प्यासी है, ऐसा कहना अनुचित नहीं, सुसंगत है। प्यास पीने की अभिलाषा है। पीना कोई मुख से नहीं, अन्य इन्द्रियों से भी होता है। संस्कृत में 'नेत्राभ्यां पपौ' आदि प्रयोग अनेक स्थलों पर आते हैं। दूसरी भाषाओं में ऐसे प्रयोग प्रचुरता से आते हैं। वेद तो स्वाभाविक भाषा में है, उस में तो ऐसे प्रयोग होने ही चाहिएं, अस्तु। वाणी में जब बोलने की उत्कट इच्छा हो, जब न बोलने से कष्ट हो, तब वाणी प्यासी होती है। इससे यह न समझा जाए, कि बोलने के लिए तो प्रायः हर एक की स्वाभाविक ही प्रवृत्ति होती है, इस वास्ते यहां कोई विशेषता नहीं, क्योंकि ब्राह्मण परम संयमी होता है, उसे तो इन्द्रिय व्यापार से स्वशक्ति का क्षय प्रतीत होता है। इस वास्ते वह तो तभी बोलना चाहता है, जब उसके न बोलने से जगत् का अनिष्ट होने की प्रबल संभावना हो। ऐसा ब्राह्मण वाणी की तृप्ति के लिए नहीं बोलता, वह तो केवल जगत् के हित को सामने रख कर बोलता है। ऐसे ही के लिए ऋग्वेद का यह पवित्र मन्त्र है "वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान्" चुप चाप रहने वाले से बोलने वाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है।

प्रश्न हो सकता है, ब्राह्मण की वाणी तो कल्याणी होती है, वह क्यों भयंकर सर्पिणी का रूप धारण करती है। इसका उत्तर अत्यन्त सीधा है। जल को संस्कृत में 'पवित्र' भी कहते हैं, जल है भी पवित्र, और

पवित्रकारक, शान्तिप्रद भी है। किन्तु वही जब बहने से रोक दिया जाता है, तब उसमें सड़ांद पैदा हो जाती है। उसका सामीप्य अनेक रोगों का कारण बन जाता है, वह पानी तो जीवन को संशयास्पद कर देता है। यही अवस्था वायु की है। तात्पर्य्य यह कि जिस हितकर पदार्थ का जो नैसर्गिक स्वभाव है, उसे उसके अनुसार वर्त्तने देना चाहिए, उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं करनी चाहिए। जहां बाधा की गई, कि वह बाधक तथा अन्य समीपवर्त्तियों के लिए भय का हेतु बन जाता है। वायु तथा जल के दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट है। ब्राह्मण अपने उपदेश से सदा शान्ति और समता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। वह न राजा का अनिष्ट चाहता है, न प्रजा का अनुचित पक्षपात करता है। उसका व्यक्तियों से कोई वैर नहीं होता, दुर्गुणों तथा दोषों से उसे भयंकर ग्लानि होती है, यही ग्लानि उसे बोलने को उत्साहित करती है। वह राजा, प्रजा दोनों को खरी खरी सुनाता है। मूर्ख, अज्ञानी राजा अपने हितैषी के मुख से निन्दा सुनकर खीज उठता है। वह अपना सुधार नहीं करता। वरन् उस जनप्रियनेता–ब्राह्मण पर बन्दिश लगाता है। परिणाम यह होता है कि प्रजा उद्विग्न हो उठती है। उसके उद्वेग को शान्त करने वाला तो कहीं कारागार में है या उसे बोलने की आज्ञा नहीं। प्रजा और उतावली और बावली हो जाती है। फिर वह राजा के लिए अदम्य हो जाती है। यही ब्राह्मण वाणी का सर्पिणी बनना है सर्पिणी और वह भी झुंझलाई हुई सर्पिणी बहुत भयंकर होती है, उसके डसने से प्राणों का संशय रहता है। यहां राज्यरूप प्राण ख़तरे में पड़ते हैं। अतः राजशक्ति का कर्त्तव्य है, कि वह सदा ब्राह्मणों = जनता के सर्वप्रिय नेताओं से सदा परामर्श ले। यदि परामर्श न लेकर उसे परामर्श से रोका जाए, तो परिणाम स्पष्ट है।

——— ———

ब्राह्मण की वाणी को दबाना विषपान करना है

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चो—
ग्निरिवारब्धो विदुनोति सर्वम् ।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव
स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

दबाई हुई ब्राह्मण की आवाज़ (क्षत्रं) क्षात्रशक्ति को (निः+नियति) सर्वथा निकाल देती है (वर्चः) तेज को (हन्ति) नाश कर देता है और (आरब्धः) सुलगाई (अग्निः इव) आग की भांति (सर्वं) सबको (विदुनोति) तपाती है, जलाती है, दुखी करती है। (सः) वह राजा (तैमातस्य) घोला हुआ (विषस्य) विष (पिबति) पीता है (यः) जो (ब्राह्मणं) ब्राह्मण को (अन्नं+एव) खाने की ही वस्तु (मन्यते) मानता है।

ब्राह्मण = लोकप्रिय नेता की ज़बानबन्दी का फल, परिणाम इस मन्त्र में दर्शाया गया है। ब्राह्मण–निस्स्वार्थ ब्राह्मण, लोकहित ब्राह्मण, राजा प्रजा सब को सच सच सुनाने वाला ब्राह्मण, राज्य में दोष देखता है। उसकी पैनी बुद्धि उसे भावी भयंकर अनर्थ के दर्शन करा देती है। ब्राह्मण राजा एवं राष्ट्र को उस आपत्ति से बचाना चाहता है, वह बिना लाग लपेट स्पष्ट स्पष्ट कहना आरंभ करता है। राजा या शासकवर्ग मदोन्मत्त है, पशुबलावलम्बी है, ब्राह्मण के उपदेश का तिरस्कार ही नहीं करता, अपितु उसके उपदेश को अपराध मानता है। अपराधी मान कर उसकी ज़बानबन्दी कर दी जाती है, अथवा उसे जेल में ठेल दिया जाता है। शासकवर्ग समझता है, हमने रोग दूर कर दिया। किन्तु यह तो वैसा है, जैसे कोई निकलती वाष्प को ज़बरदस्त ढकने से बन्द कर दे। जैसे उस से बड़ा भयंकर धमाका होता है, ऐसे ही यहां भी राष्ट्र में भयंकर उत्पात होता है। ऐसे शासकवर्ग का शरीर पर अधिकार भले ही हो। प्रजा के

चित्त पर आधिपत्य तो नेता का ही होता है। आवेश और उद्वेग के समय वही इनको सीधा मार्ग बताकर इनकी अतुल शक्तियों का सदुपयोग करता है।

ब्राह्मण बन्दीगृह में बन्द है। अब प्रजावर्ग पर किसी का नियन्त्रण रहा नहीं। प्रजा शासकों के इस अन्याय से खीज उठती है। वह उपद्रव पर उतारू हो जाती है। परिणाम यह होता है कि सच्चे क्षत्रिय [चोट से बचाने वाले] प्रजा का साथ देते हैं, राजा क्षत्रहीन हो जाता है। क्षत्र तेज-पुंज होता है। क्षत्रशक्ति के साथ तेज भी गया, वर्च भी लुप्त हुआ। तेजोहीन, वर्चोविहीन राजा का आदर, आतंक कुछ नहीं रहता।

प्रजा का क्षोभ इस अवस्था को देखकर और उत्साहित होता है, वह अब अग्नि का रूप धारण कर लेता है। इसको कौन बुझाए, बुझाने वाली शक्ति को तो राजा ने निरुद्ध कर रक्खा है, आग धधकती है, अब इसका ताप सब को तपाता है। राजा प्रजा सब उत्तप्त हो उठते हैं, राजा को तो विशेष ही तपाती है। समझा था, ब्राह्मण तर निवाला है, किन्तु निकलता है वह ज़हर—विष का प्याला। होश के तोते उड़ते हैं, किन्तु अब कोई उपाय नहीं। संसार के इतिहास पर दृष्टि डालिए, जब जब किसी राजा ने ब्राह्मणवाणी का तिरस्कार किया, उसका यही फल हुआ। बड़े बड़े चक्रवर्ती राजाओं के राज्य मिट्टी में मिल जाते हैं। आगे भी जो ऐसा करेगा, उसकी भी यही गति होगी। यही वेद की विशेषता है कि इसके उपदेश सार्वभौम एवं सार्वकालिक हैं। वेद अनादि एवं अनन्त तथ्यों का भंडार है।

राष्ट्र और शरीर की एकसी अवस्था है। शरीर में जब कोई विकार होता है, तो उसका वमनादि के रूप में निकास होने लगता है। यदि मूर्ख रोगी या यमराज का सहोदर कोई वैद्यपाश उसे निकलने नहीं देता, तो समस्त शरीर विषाक्त हो जाता है, भयंकर रोगों से आक्रांत हो जाता है।

इसी प्रकार आत्मा की अवस्था है। मनुष्य जब कोई निषिद्ध कर्म

करने लगता है, तब अन्तरात्मा–ब्राह्मणों के ब्राह्मण = ब्रह्म की वाणी उसे रोकती है, जो उस ध्वनि को सुनकर पाप से निवृत्त हो जाता है, वह पाप के भयंकर फलों से बच रहता है। जो उस ब्रह्मवाणी का तिरस्कार करता है, उसे नहीं सुनता, दबा देता है, वह पाप के गहरे गढ़े में गिरता चला जाता है। वह फिर श्रीहीन, हतवर्चस्क हो जाता है। उसका अव दासवर्ग–इन्द्रियों पर कोई अधिकार नहीं रहता, उलटा वह इनके वशीभूत हो जाता है। राजसिंहासन से च्युत कर दिया जाता है और जन्ममरण के चक्र में फंस जाता है। इस दृष्टि से विचारें, तो वेदमन्त्र थोड़े से शब्दों में अनेक शिक्षाएं देते हैं। यह केवल दिग्दर्शन मात्र है, विज्ञ पाठक, मन्त्रों का मनन करें, उन्हें अनेक दिव्य अर्थों का भान होगा, क्योंकि मन्त्र तो हैं ही मनन के लिए, तभी तो ऋषि यास्क ने 'मननान्मन्त्राः' कहा है।

ब्रह्महत्यारे का कोई ठौर नहीं

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो
देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध
उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम्॥ ५॥

(यः) जो (देवपीयुः) देवद्रोही, धर्मविरोधी, दैवीसंपत्ति का शत्रु, उत्तम गुणों का दुश्मन (धनकामः) धन का अभिलाषी, मौत की इच्छा करने वाला (न चित्तात्) अज्ञान के कारण, मूर्खता से (एनं) इस ब्राह्मण को (मृदुं) नरम, कोमल (मन्यमानः) मानता हुआ (हन्ति) मारता है, (इन्द्रः) इन्द्र (तस्य हृदये) उसके हृदय में (अग्निं) आग (इन्धे) जला देता है और (उभे) दोनों (नभसी) द्यौ और पृथिवी–लोक, (चरन्तं) विचरने वाले (एनं) इस ब्रह्महत्यारे

से (द्विष्टः) द्वेष करते हैं। अथवा यह लोक और परलोक इसके विरोधी हो जाते हैं।

जब एक बार मनुष्य में पाप प्रवेश कर लेता है और मनुष्य उसके सामने झुक जाता है, तब कहीं ठिकाना नहीं रहता। पापेच्छापूर्त्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है। पापी और व्यसनी के पास धन टिक नहीं सकता, उसे हर समय पैसा चाहिए। पैसा—धन कहां से आए? पैसा प्रजा से मिल सकता है। प्रजा तो अपना उचित भाग दे चुकी है। प्रजा अधिक देना नहीं चाहती। राजा प्रजाकृत इस अवज्ञा से खीजता है, वह प्रजापीड़न पर तत्पर होता है।

प्रजा से राजा को सब आय होती है, प्रजा से ही राजा का यश और तेज है। राजा की समस्त शक्ति का उद्‌गम स्थान प्रजा ही है। इस प्रकार विचार करें, तो राजा के लिए प्रजा 'देव' है। क्योंकि ऋषि लोग 'देव' शब्द का अर्थ 'देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद्वा' (निरु०) करते हैं, अर्थात् जो दे, जो प्रकाश करे, उसे देव कहते हैं। अब जो राजा प्रजापीड़न करता है, वह देवपीड़न करता है, वेद में उसे 'देवपीयु' कहा जाता है।

कामना का जब विघात होता है, तो मनुष्य में क्रोध का आवेश होता है। उस आवेश के कारण मनुष्य के सब सद्‌गुणों का लोप सा हो जाता है। सद्‌गुणों को वेद में 'देव' कहते हैं। तो इच्छाविघात से क्रोधाविष्ट मनुष्य, देवविघातक = देवपीयु बन जाता है।

जो देवपीयु बन जाता है, सद्‌गुणों का घातक हो जाता है। सब भलाइयों को भुला देता है। मानो वह अज्ञान से मौत की कामना कर रहा है। यद्यपि हर एक प्राणी जीना ही चाहता है मौत को कोई बुलावा नहीं देता, किन्तु जब कोई मनुष्य अज्ञानवश मृत्युसाधक कार्य करने लगता है तो लोग स्वाभाविक ही कह उठते है, 'क्यों मरना चाहता है'?

तो जो सद्गुणों का नाश कर रहा है, प्रजाद्रोह कर रहा है, वह तो अपनी मौत आप बुला रहा है, इसी वास्ते हमने 'धनकामः' शब्द का एक अर्थ 'मौत की इच्छा करने वाला' किया है।

जो धनकाम और फिर देवपीयु या जो देवपीयु और फिर धनकाम हो जाता है। वह तो अज्ञान के बस पड़ा है, उसकी विवेकबुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सूझ नहीं रहती। वह सदा पालनीय, रक्षणीय ब्राह्मण को भी मारने के योग्य समझने लगता है। वह कठिन, दुष्पच, अभक्ष्य पदार्थ को तर निवाला, नरम ग़िज़ा, मृदु भोजन मान बैठता है और उसे खाने को उद्यत होता है।

ज्योंही वह अज्ञानी यह कृत्य करता है। त्यों ही उसके अन्दर भय, अविश्वास की आग सुलग उठती है। उसे अपने पराए सबसे भय आने लगता है। अपने पाप के कारण सबको अविश्वास, और सन्देह की दृष्टि से देखता है। न तो वह अपने महल में–राजप्रासाद में–घर में चैन से बैठ सकता है, और ना ही वह बाहर कल से फिर सकता है। यह आग किसने लगाई है। देवों के राजा इन्द्र ने। वेद और पुराण में देवों का राजा इन्द्र कहा गया है। 'इन्द्र क्या है' इसका निरूपण हमने अपनी पुस्तक 'इन्द्र' में किया है। यहां केवल इतना बताना पर्य्याप्त है कि इस मन्त्र में इन्द्र से आत्मा और परमात्मा दोनों ही अभिप्रेत हैं। पाप के पश्चात् जो भयंकर आत्मग्लानि उत्पन्न होती है। उसके मूल प्रेरक सर्वहितकर्त्ता प्रभु ही होते हैं। इस वास्ते कहा है—"सं तस्येन्द्रोहृदयेऽग्निमिन्धे।"

पाप के कारण जब यहां बेचैनी है, बेकली है! तो विना परिशोध के परलोक में उसे कैसे कल पड़ेगी? ब्रह्महत्यारे बेचारे का कहीं भी निस्तारा नहीं। तभी तो कहा है–"उभ एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम्।"

भोग विलास के लिए प्रजापीडन द्वारा शान्ति चाहने वाले का कितना विकट परिणाम है। शान्ति के स्थान अशान्ति और भय। किन्तु मोह के कारण लोग देखते हुए नहीं देखते, सुनते हुए नहीं सुनते।

ब्राह्मण अवध्य है

न ब्राह्मणो हिंसितव्यो–
ऽग्निः प्रियतनोरिव।
सोमो ह्यस्य दायाद
इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः॥ ६॥

(प्रियतनोः अग्निः इव) प्यारे शरीर की अग्नि के तुल्य (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (न) नहीं (हिंसितव्यः) मारा जाना चाहिए। (हि) क्योंकि (सोमः) सोम = ज्ञान विज्ञान (अस्य) इसका (दायादः) दायाद है और (इन्द्रः) इन्द्र = प्रभु, परमात्मा (अस्य) इसका (अभिशस्तिपाः) विपत्ति से, हन्ता से रक्षा करता है।

इस मन्त्र में ब्राह्मणहिंसा का निषेध किया है। कारण भी बताया है। उसका विचार करने से पूर्व पाठक महानुभाव देखें, यहां ब्राह्मण को न मारने की बात कही है। ब्राह्मण का मारना दो प्रकार से हो सकता है। प्राण वियोग द्वारा या शक्ति के अपहरण द्वारा। ब्राह्मण की शक्ति क्या है। क्या धन, गौ आदि पशु, यह तो वैश्य की शक्ति है। ब्राह्मण की शक्ति तो उसकी वाणी में है, मुख में है, तभी तो वेदादि शास्त्रों में ब्राह्मण की मुख से उत्पत्ति कही गई है। ब्राह्मण की शक्ति वाणी उससे छीन लेना उसे मार देना है।

वेद कहता है, ब्राह्मण अवध्य है। क्यों अवध्य है? क्योंकि यह प्यारे तन की आग है। प्राणी को धनधान्य से भी शरीर अधिक प्यारा होता है। कहावत भी है–'जान बचे सो लाखों पाए' सिर सलामत रहे,

धन बहुत'। शरीर की स्थिति अग्नि के सहारे है। जब तक शरीर में गरमी है, आग है, शरीर जीता है। आग बुझी, गरमी गई, फिर शरीर मृतक है। यहां वेद ने ब्राह्मण को आग बना दिया। जिस प्रकार शरीर की आग बुझने से शरीर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार किसी भी क्षेत्र में देखें, अग्नि के शान्त होने से उस क्षेत्र के सब व्यवहार, व्यापार बन्द हो जाते हैं। अग्नि हमारा भोजन पकाती है, प्रकाश देती है, गाड़ी चलाती है, कल कारखाने चलाती है। तार समाचार पहुंचाती है। संक्षेप में–अग्नि हमारे प्रत्येक कार्य की साधिका है। यह हमारे कार्य स्थिति की दशा से हटा कर गति की दशा में ले जाती है। इसी वास्ते अग्नि का अर्थ "अग्रणी:" आगे ले जाने वाला किया जाता है।

ब्राह्मण को अग्नि के समान बता कर वेद ने एक अद्भुत सच्चाई का प्रकाश किया है। ब्राह्मण हमें ज्ञान दान कर हमारे अज्ञान का नाश करता है। हमारे स्वरूप का बोध करा कर हमें गिरने नहीं देता, पतित अवस्था से ऊपर उठाता है। राजा प्रजा सबको हितोपदेश कर सब को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाता है। बताइए ऐसे ब्राह्मण को मारने में, ऐसे ब्राह्मण की जबानबन्दी करने में कितना अनर्थ है? कितनी भयंकर राष्ट्रीय हानि है? जिस प्रकार शारीरिक अग्नि के शान्त होने से शरीर नष्ट हो जाता है, वैसे ब्राह्मणरूप अग्नि के नष्ट होने से अवश्यमेव राष्ट्ररूपी शरीर का सर्वनाश होता है।

यहां जन्म के ब्राह्मण को अवध्य नहीं कहा। जो सचमुच ब्राह्मण है, निःस्वार्थ है, परहितकारी है, वह चाहे किसी कुल, किसी देश में उत्पन्न हुआ हो, ब्राह्मण है।

ब्राह्मण क्यों अवध्य है? इसका उत्तर "सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपा:" है। सोम ब्राह्मण का दायाद = संबन्धी = उत्तराधिकारी तथा इन्द्र इसका आपत्ति से रक्षक है।

७

'सोम' क्या है ? सोम को यहां ब्राह्मण का दायाद बतलाया है, एक दूसरे स्थान पर वेद ने 'सोमो अस्माकं ब्राह्मणानां राजा' कह कर सोम को ब्राह्मणों का राजा बतलाया है। वेद ने यहां एक गहरा राजनैतिक सिद्धान्त बतलाया है। वेद कहता है—ब्राह्मण को मार कर नाश करके भी तुम शान्ति से नहीं बैठ सकते, क्योंकि उसका उत्तराधिकारी मौजूद है। वह सोम = ज्ञान है। लोगों के अन्दर ब्राह्मण जो आत्मविश्वास तथा आत्मज्ञान उत्पन्न करता है, वह तो ब्राह्मण के मार देने पर भी बना रहता है, विनष्ट नहीं होता। आगे तो एक था, अब असंख्य हैं। किस किस को दबाओगे, किस किसको सूली पै चढ़ाओगे। सारी प्रजा को मार कर राजा किस का ? विकट समस्या है !!!

इतना ही नहीं। ब्राह्मण की रक्षा करने वाली एक और शक्ति है। वह 'इन्द्र' है। इन्द्र = प्रभु उसे सब आपद् विपद् से बचाता रहता है। भगवान् ब्राह्मण के साथ हैं। भला, किसकी सामर्थ्य ! कि ब्राह्मण का बाल भी बांका कर सके। अतः ब्राह्मण अवध्य है।

ब्राह्मणस्व दुष्पच होता है

शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन्।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्वद्मीति मन्यते ॥ ७ ॥

(यः) जो (मल्वः) अभिमानी (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है कि मैं (ब्रह्मणां) ब्राह्मणों के (अन्नं) अन्न को (स्वादु) स्वादपूर्वक, आनन्दपूर्वक (अद्मि) खाता हूँ, वह (शतापाष्ठां) सैकड़ों विपत्तियों के मूल को अथवा सैकड़ों पंखों वाले वाण को (निगिरति) निगलता है, किन्तु (तां) उसको (निः खिदन्) हज़म कर (न) नहीं (शक्नोति) सकता।

ब्राह्मण के पास तो शस्त्रास्त्र कुछ नहीं। तोपखाना नहीं, रिसाला नहीं, तलवार नहीं, बन्दूक नहीं, बरछी नहीं, भाला नहीं। युद्ध का कोई उपकरण नहीं। फिर यह हमारे सामने बोलने का साहस करता है, हमारे दोष बताता है, इसका इतना साहस !! अच्छा, इसे इसका मज़ा चखाना चाहिए। राजा के दोष बताने का क्या फल होता है, इसे सुझाना चाहिए। इस प्रकार के विचार करता हुआ पशुबल का बली राजा ब्राह्मण पर हाथ डाल बैठता है। समझता है, इस निहत्थे को कुचलने में क्या लगेगा ? किन्तु ज्योंही हाथ डालता है, भौंचक्का रह जाता है, जिसे मृदु कपास समझा था, वह तो वज्र से भी कठोर निकला। जिसे मिश्री समझा था, वह तो भिड़ों का भयंकर छत्ता निकला। विचित्र दशा है। इसको अभिमान था, ब्राह्मण को निगल कर पचा जाउंगा, निगल तो बैठा, किन्तु यह तो सर्वथा दुष्पच प्रमाणित हुआ। जिस प्रकार कोई दुष्पच पदार्थ पेट में चला जाए, तो भयंकर विकार उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर की सारी क्रिया अस्तव्यस्त हो जाती है, कोई भी अंग अपनी क्रिया ठीक ढंग से नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में वमन विरेचन ही हितकारी सिद्ध होता है। वमन विरेचन के द्वारा केवल यह दुष्पच पदार्थ ही बाहर नहीं निकलता, अपितु कुछ और भी बाहर आता है, काया क्षीण हो जाती है। कभी कभी मृत्यु भी हो जाती है। यही अवस्था ब्राह्मण को निगलने से होती है। समस्त राज्य में भयंकर अशांति और उपद्रव होने लगते हैं। शासकवर्ग का नाश-बहिष्कार होने लगता है। ब्राह्मण को छोड़ना ही नहीं होता, अपितु शासनाधिकारों से भी हाथ धोने पड़ते हैं। समस्त संसार का इतिहास इसका साक्षी है। अब पता लगता है, कि निःशस्त्र ब्राह्मण, सैन्यरहित ब्राह्मण के पास कितनी शक्ति है, उसका सामर्थ्य कितना है। सके शस्त्रास्त्र कितने पैने तथा अमोघ हैं। संसार का बलशाली राजा भी ब्राह्मण का मुकाबला नहीं कर सकता, कदाचित् इसी भाव को लक्ष्य में रख कर ग़रीब वसिष्ठ

से हार कर विश्वामित्र ने 'बलं ब्रह्मबलं धिक् क्षत्रबलं' कहा था। शस्त्रास्त्र विद्या का परमाचार्य्य महाराज विश्वामित्र वसिष्ठ का सामना न कर सका। इस मन्त्र के भावार्थ 'ब्राह्मण के दुष्पच' होने की बात को लेकर रामायण, महाभारत एवं अन्यान्य पुराणों में कई आख्यायिकाएं रची गई हैं, किन्तु वहां भी यह ध्यान रखना चाहिए कि 'ब्राह्मण' का अर्थ कुलविशेष में उत्पन्न कोई व्यक्तिविशेष नहीं, अपितु गुण कर्म स्वभाव के अनुसार जो ब्राह्मण हो, ऐसे ब्राह्मण = देवबन्धु की शक्ति विलक्षण होती है, सामर्थ्य अमोघ और अबाध होता है। ब्राह्मण की वह शक्ति क्या है। उसके हथियार क्या हैं। किस प्रकार उनसे प्रहार किया जाता है, इन सब बातों का अगले मन्त्र में मनोमुग्धकारिणी शैली से निरूपण किया गया है। ब्राह्मण के शस्त्रास्त्र देखिए, और फिर ब्राह्मणशक्ति के महत्व को समझिए।

ब्राह्मण का देवजूत धनुः

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्
नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्
हृद्बलै र्धनुभि र्देवजूतैः ॥ ८ ॥

(जिह्वा) जीभ, उन धनुषों की (ज्या) तांत, डोरी = प्रत्यंचा (भवति) होती है। (वाक्) शब्द, वाणी (कुल्मलं) वाणदण्ड होता है (नाडीकाः) नाड़ियां = ज्ञानतन्तु (तपसा अभिदिग्धाः) तप रूप विष से सने हुए (दन्ताः) वाण के दांत = वाणाग्र होते हैं। (तेभिः) उन (देवजूतैः) देवप्रेरित (हृद्बलैः) हृदयबल रूप (धनुभिः) धनुषों से (ब्रह्मा) राष्ट्ररक्षक, यज्ञ का प्रधान, प्रजानेता ब्राह्मण (देवपीयून्) देवद्रोहियों को (विध्यति) बींधता है।

राजा के पास तोपें हैं, मशीनगनें हैं, बन्दूकें हैं, बम हैं, हवाई जहाज़ हैं, तलवारें हैं, किरचें हैं, भाले हैं, बरछे हैं, नरहत्या करने के सब साधन हैं। विज्ञान उसकी सतत सहायता करता है। इस प्रचण्डशक्ति-संपन्न भीम-सेन राजा से युद्ध करने को जो ब्राह्मण देवता तय्यार हुए हैं। ज़रा उनके शस्त्रास्त्रों पर निगाह डालिए। ब्राह्मण देवता के पास एक धनुष है। राजा के धनुष शस्त्र अस्त्र, शक्ति, पट्टिश, तोमर आदि बनते हैं कारखानों में मनुष्यों के द्वारा, किन्तु ब्राह्मण के धनुष का निर्माण करते हैं विश्वकर्मा सकलकलानिधान करुणानिधान भूतभावन पतितपावन अशरणशरण महामहिमवान् भगवान्। उसे चलाते भी मानो स्वयं भगवान् हैं, तभी तो वेद ने उसका विशेषण पद 'देवजूतः' देवप्रेरित प्रयुक्त किया है। धनुष में तांत = डोरी होती है, बाण होते हैं। बाणों के अग्र भी विशेष प्रकार के होते हैं। तो इस ब्रह्मधनुष = देवजूत धनुष की प्रत्यंचा = डोरी क्या वस्तु है! वेद कहता है—'जिह्वा ज्या भवति' वाणी उसके धनुष की तांत होती है।

जिह्वा से, वाणी से निकला शब्द वाण का काम करता है। ज्ञान-तन्तुएं वाणाग्र की स्थानापन्न हैं। वाण विष में बुझाया जाता है, यहां विष का स्थान तप ने ले रक्खा है। दुर्बल शरीर वाला धनुषप्रभृति शस्त्रास्त्रों का संचालन नहीं कर सकता, इस वास्ते राजसेना में भीमकाय बलिष्ठ जवान भर्त्ती किए जाते हैं, इस दैवधनुष् के संचालन के लिए शारीरिक बल की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी आत्मबल की, यह मानस शक्ति से चलाया जाता है, इस वास्ते वेद ने 'हृद्बल' शब्द का व्यवहार किया।

इस दृष्टि से विचारें तो एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है, कि यह आत्मा और अनात्मा का युद्ध है। देवासुर संग्राम है। लोकप्रिय प्रजा-नेता, जिसे इस सूक्त में ब्राह्मण कहा गया है, देवों का प्रतिनिधि है,

क्योंकि उसके अस्त्र 'देवजूत' है। असुरों का प्रतिनिधि यहां वीतहव्य–देवपीयु है। देवासुरसंग्राम का अन्त सदा देवविजय में हुआ करता है। इसी बात को कहने के लिए 'तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्' वचन कहा है। यह ऐसा तथ्य है, जो किसी भी काल में बाधित नहीं होता।

धनुष में प्रत्यंचा = डोरी = ज्या का बड़ा महत्व है, अतः धनुर्विद्या-विशारद विशेष प्रकार की तांत का प्रयोग करते हैं। यहां ब्रह्मधनुष् में जिह्वा को प्रत्यंचा बनाने से प्रतीत होता है, जिह्वा में कोई विशेष सार है, कोई अद्भुत शक्ति है। उसके विलक्षण सामर्थ्य का विश्लेपण एवं विवेचन करने से पूर्व जिह्वा = वाणी के स्वरूप का विचार कर लेना आवश्यक है।

साधारण लोग उच्चरित शब्दों को ही वाणी समझते हैं और जिह्वेन्द्रिय को इसका साधन समझते हैं। जो अधिक विचारशील हैं, जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की कुछ योग्यता रखते हैं, वे जानते हैं, उच्चारण = जिह्वासंचालन, ओष्ठस्फुरण आदि से पूर्व भी वाणी होती है। ओष्ठादि हिलाए विना कई बार हम अपने मन में कई शब्दों का विचार या मन्त्रादि का जप करते हैं। उन शब्दों की हमें प्रतीति भी होती है। कई सज्जन इससे भी आगे जाते हैं और मन की इस शब्दविचारक्रिया या जपप्रक्रिया से पूर्व अवस्था का विचार करते हैं, जब उन विचारों ने शब्दों का आकार धारण नहीं किया, उससे भी आगे एक अवस्था है, जब विचारों की अवस्था की प्रतीति भी नहीं होती, किन्तु वे होते हैं, चाहे वे प्रसुप्त दशा में कहे जाएं या बीजरूप में। वही वाणी का मूल उद्गमस्थान है। उस अवस्था वाली वाणी का नाम ऋषियों ने 'परा' रक्खा है, उस अवस्था में 'वाणी' सब विचारों के मूलाधार आत्मा में है। कोई कुशाग्रधी योगी ही इस वाणी के जानने में समर्थ होता है। जब इस निर्विशेष अवस्था से आगे बढ़कर विचार का रूप धारण करने लगती है,

तब सूक्ष्मबुद्धि के धनी योगी को भी इसका भान होने लगता है, उसे महात्मा लोग 'पश्यन्ती' के नाम से पुकारते हैं। इसके बाद जब विचार शब्दों का आकार धारण करते हैं, किन्तु कण्ठताल्वादि के अभिघात से ध्वनि की अवस्था में नहीं आए होते। अत्यन्त जड़ों तथा पामरों को छोड़कर शेष सबको इसका बोध सुलभ है। इसे ज्ञानी लोग 'मध्यमा' नाम से पुकारते हैं। ध्वनि रूप ग्रहण करने पर इसका नाम 'वैखरी' होता है। साधारण लोग इसे ही वाणी समझते हैं, इससे पूर्व के रूप इनके ध्यान में ही नहीं आते। यह चार अवस्थाएं कल्पित नहीं है। यह सब विज्ञान-सिद्ध अवस्थाएं हैं। मनुष्य जब बोलना चाहता है, तो आत्मा में इच्छा के साथ प्रयत्न होता है, फिर मन से संयोग, उधर आत्ममनःसंयोग से उच्चार्यमाण विचारों का शब्दाकार निर्धारण करना, फिर नाभिस्थ वायु को प्रेरणा करना, उसका कण्ठ तालु आदि से चोट खाकर अभीष्ट ध्वनि के रूप में उनको परिवर्त्तित करना होता है। वाणी की इन चार अवस्थाओं का वेद में भी वर्णन है।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ऋ० १।१६४।४५ ॥

वाणी के चार भाग हैं, उनको मनीषी = अपने मन के स्वामी ब्राह्मण = ब्रह्मवेत्ता लोग ही जान पाते हैं। इसके तीन भाग आत्मा में गुप्त हैं, गति नहीं करते, मनुष्य तो वाणी का केवल चौथा हिस्सा बोलते हैं।

मनुष्य सारी वाणी पर अधिकार नहीं रखते, इसी कारण अपने अभि-प्राय को पूरा पूरा प्रकाशित नहीं कर पाते। यदि मनुष्य का वाणी पर अधिकार होता, तो वह अपने आशय को उचित शब्दों में प्रकट करता। फिर दूसरों को उसका भाव समझने में अड़चन न पड़ती। 'मेरा यह

अभिप्राय नहीं' ऐसा किसी भी वक्ता को कहने की आवश्यकता न पड़ती।

क्या स्थूल वाणी = वैखरी इतनी है, जो हम बोलते हैं ? विचार से प्रतीत होता है कि यह तो बहुत थोड़ी है। वाणी तो दूसरे को अपना अभिप्राय समझाने के लिए व्यवहार की जाती है। तब तो वे सब साधन जिनसे अपना मतलब दूसरों पर जाहिर किया जा सकता है—वाणी के क्षेत्र में आ जाएंगे। इस रीति से संकेत, तार, बेतार, पत्र, समाचारपत्र आदि सब वाणी का ही रूप हैं। शब्दशास्त्र का अर्थ व्याकरण न लिया जाए, तो 'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्' वाणी के विषय में पूरा चरितार्थ होता है। ऋषि लोगों ने वाणी के इस विस्तार को अनुभव करके ही 'शब्दब्रह्म' की परिभाषा गढ़ी थी। वाणी के स्वरूप का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन है। इससे वाणी की शक्ति समझने में सुविधा होगी।

यदि एक वाक्य में कहना हो, तो वाणी का बल-यथार्थ बल-सत्य है। जब सत्यपूता वाणी का व्यवहार किया जाता है, तब वाणी का अद्भुत सामर्थ्य देखने में आता है। सामान्य मनुष्य इस तथ्य को पूरी तरह अनुभव नहीं कर पाते, अतएव वे सत्य की महिमा को जानते हुए भी सत्य-व्यवहार से डरते हैं।

साधारण मनुष्य तो वाणी का सामर्थ्य शब्दोच्चारणमात्र मानते हैं। जो खूब बोले, वाचाल हो, उसको बड़ा मानते हैं, किन्तु एक बात वे भी कह दिया करते हैं, 'अमुक बड़ा बकी है, दूसरों का सिर चाट जाता है, लोगों का दिमाग़ खा जाता है।' अर्थात् अधिक बोलने को जन साधारण भी पसन्द नहीं करते। कभी कभी तो स्वयं बोलने वाले को भी अपना बोलना अप्रासंगिक एवं अयुक्त प्रतीत होता है, किन्तु दुरभ्यासवश वह अपने को रोक नहीं पाता। फलतः ऐसे लोगों के कथन का जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी वाणी निस्सार होती है।

दूसरे लोग हैं, जो नित बोलते हैं, थोड़ा बोलते हैं। परिष्कृत तथा परिमार्जित बोलते हैं, उनके वाक्य सरल, भाव सुलझे होते हैं। अवसर के अनुसार, प्रकरण के अनुकूल तथा प्रसंगानुरूप शब्दों का प्रयोग करते हैं। प्रत्येक पद को अपने उचित अर्थ और स्थान में प्रयुक्त करते हैं। सभास्थल में करतलध्वनि आदि से उनकी स्तुति की जाती है, किन्तु सभास्थान से बाहर जाने पर श्रोता वैसे ही कोरे होते हैं, जैसे सभा-स्थान में प्रवेश करने से पूर्व। क्या कारण? उसके शब्द सुन्दर थे, उपयुक्त थे, सशक्त थे, अर्थगांभीर्यसंपन्न थे, सब कुछ था, किन्तु अपने न थे। क्या प्रयोजन? वे शब्द उसकी जिह्वा से अवश्य निकलते थे, उनके व्यवहार से उसके मुख को अवश्य परिश्रम होता था, किन्तु उसके साथ उसका हृदय, मन तथा आत्मा न थे। अर्थात् उन शब्दों के भावों के साथ, उन शब्दों के मूल के साथ उसके आत्मा का कोई सम्बन्ध न था। यदि आपने वाणी की चार अवस्थाओं को हृदयंगम कर लिया है तो यह समझने में आपको कठिनता न होगी। मूल वाणी 'भाव' है। इसी वास्ते जो आदमी कुछ ऐसा बोलता है, तो उसे कहते हैं—'यह ऊपर से बोल रहा है, दिल से नहीं कह रहा'। जो बात अन्तस्तल से न निकले, वह यथार्थ नहीं होती। क्योंकि उसका जीवन में कभी अनुभव हुआ नहीं। वह आत्मसात् कभी हुई नहीं। आत्मसात् न होने से उस पर आत्मा का रंग चढ़ा नहीं। आत्मा के रंग में न रंगने के कारण वह बेजान है, निष्प्राण है, अतएव शक्तिविहीन है।

मनुष्य को इस स्वल्प जीवन में अत्यन्त अल्प अनुभव प्राप्त होता है, किन्तु मनुष्य अपने बहिर्मुखवृत्तिजन्य वाचालता के कारण उसका भी नाश कर बैठता है। प्राप्त अनुभव को उपयोगी बनाने के लिए वाक्-संयम सबसे आवश्यक वस्तु है। जो वाणी के इस माहात्म्य को समझ लेते हैं, वे चुप हो जाते हैं। उनका मौन अनेक लम्बे चौड़े व्याख्यानों

की अपेक्षा अधिक सारवान् एवं उपदेशप्रद होता है। उन्हें चुप देख कर संसारी कई प्रकार के अभिप्राय लेते रहते हैं। वह 'वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान्' बोलने वाला विद्वान् न बोलने बाले से अच्छा है, अर्थात् 'मौनात्सत्यं विशिष्यते' का अनुसरण कर बोलता है, तो श्रद्धा एवं भक्ति से सुनते हैं, वे समझते हैं, अवश्य कोई आवश्यक, अनिवार्य्य प्रसंग उपस्थित हुआ। उसका एक एक वचन लोगों के हृदय में घुसता चला जाता है। ऐसे महात्मा का उपदेश सुन कर लोग कहा करते हैं–'उसने तो अपना हृदय निकाल कर रख दिया'।

विचारिए, सचाई तो थोड़ी है, उसके मुकाबले में झूठ बहुत अधिक है। दो और दो चार–यह सचाई है, किन्तु इसके विरुद्ध $३\frac{१}{२}$, $३\frac{३}{४}$, $४\frac{१}{२}$ आदि अनन्त झूठ हैं, जितने चाहो बोल लो, इनको सिद्ध करने के लिए कितने और झूठ बोलने पड़ेंगे, कितनी अनर्गल कल्पनाएं करनी पड़ेंगी, किन्तु जब युक्ति और विज्ञान का सहारा लेकर चलोगे, विना श्रम के चार की सिद्धि हो जाएगी। उसके लिए आपको कोई अलीक कल्पना नहीं करनी पड़ती।

संसार में सार पदार्थ तो थोड़ा है। इस अनन्त विश्व में हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी बहुत स्वल्प है। यदि उसका आश्रय लेंगे, तो वक्तव्य भी थोड़ा है। यदि असार और फल्गु के पीछे पड़ेंगे, तो कहीं समाप्ति नहीं, कोई ठिकाना नहीं। इस दृष्टि से विचारें तो वाणी का बल बहुत बोलने में नहीं, कम और संयत बोलने में है। असत्य बोलने में नहीं, सत्य कहने में है। सत्य सरल और ऋजु होता है। असत्य कुटिल और टेढ़ा है।

वाणी के स्वरूप और उसकी शक्ति का बोध होने से अब देवजूत धनुष का समझना सरल हो गया है। धनुष में दण्ड होता है। यहां दण्ड हृदयबल है। अकेली डोरी से तीर नहीं फेंका जा सकता। डोरी का

धनुर्दण्ड के साथ अवश्य संबन्ध—दृढ़-संबन्ध होना चाहिए। ठीक इसी प्रकार अकेली वाणी कुछ नहीं कर सकती, उसका हृदयबलरूपी दण्ड के साथ दृढ़ संबन्ध होना अनिवार्य्य है। वाणी तो केवल ध्वनि निकाल सकती है। शब्द का मूल, शब्द के भाव की प्रेरणा तो हृदय से होती है। इस वास्ते हृदयबल का होना आवश्यक है। दुर्बलहृदय या हृदयबलहीन मनुष्य का तो धनुष ही न बनेगा। वाणाग्र विष से सने हैं, यहां वाणाग्र तप से दिग्ध, तप से सने = लिपटे हैं। चिन्ता और विलाप से रहित होकर कष्ट सहन का नाम तप है।

दूसरों का सुधार करने से पूर्व अपनी शुद्धि करलो, यह वेद की विचित्र शिक्षा है। तप से आत्मशुद्धि होती है। योगिराज पतंजलि महाराज ने लिखा है—

"कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः"

तप से अशुद्धिनाश होता है, फिर शरीर और इन्द्रियों में एक विलक्षण सिद्धि उत्पन्न होती है।

यह दैवासुर संग्राम विलक्षण संग्राम है। इसमें परपीड़ा या परहानि का भाव नहीं। यह और बात है कि इसकी अवहेलना करने वाले की हानि हो जाती है, किन्तु इसके अनुष्ठान करने वाले का यह भाव कभी नहीं होता, वह तो उलटा अपने ऊपर कष्ट लेता है।

इस विचित्र धनुष को लेकर जो भी युद्ध में खड़ा होगा, उसकी अवश्य ही विजय होगी। तभी तो अगले मन्त्र में इस धनुष द्वारा फेंके गए तीर के विषय में कहा है 'न सा मृषा' वह तीरसमूह व्यर्थ नहीं जाता।

यह है ब्राह्मण के देवजूत धनुष् का वर्णन। क्या संसार का कोई शस्त्र या अस्त्र इस ब्रह्मास्त्र का मुकाबला कर सकता है। इसके सामने तो सब शस्त्रास्त्र कुण्ठित हो जाते हैं, सारे आयुध इसके सामने सारहीन हो जाते हैं। इसी वास्ते हमारे शास्त्रों में ब्रह्मास्त्र की महिमा गाई गई है।

ब्रह्मास्त्र अमोघ होता है

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो
यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत
दूरादवभिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥

ये (तीक्ष्णेषवः) तपरूपी तेज़ तीरों वाले (हेतिमन्तः) हृदयबल-धनुषधारी (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (यां) जिस (शरव्यां) शर समूह को (अस्यन्ति) छोड़ते हैं (सा) वह (मृषा) वृथा (न) नहीं होती (च) और (तपसा) तप से, यत्न से (उत) तथा (मन्युना) मन्यु = विचार से (अनुहाय) पीछा करके (दूरात्) दूर से ही (एनं) इस देवद्रोही को (अवभिन्दन्ति) बींध देते हैं ।

ब्राह्मण के अस्त्र की बानगी आपने देखली । वेद अब उस ब्रह्मास्त्र का माहात्म्य वर्णन करता है । मशीनगन का तो कुछ विशेष लक्ष्य नहीं होता इस वास्ते इसके लिए लक्ष्यभेदन आवश्यक नहीं, तोप, बन्दूक लक्ष्य पर चलाए जाते हैं, किन्तु किसी वीर, भाग्यवान् पुरुष की गोली निशाने पर लगती है । यदि सब सैनिकों की गोली, तीर आदि अचूक रहें, अवश्य ही अपने लक्ष्य को बींधें, तब तो कोई भी युद्ध इतना लम्बा न हो, शीघ्र ही समाप्त हो जाए ! अथवा युद्ध आरंभ ही न हो, क्योंकि कम सैन्य वाला, थोड़ी सामग्री वाला प्रबल शत्रु के साथ शत्रुता का प्रकाश ही क्यों करेगा । किन्तु आए दिन युद्ध होते हैं और खूब लम्बे युद्ध होते हैं । कई कई साल तक चलते रहते हैं । करोड़ों मन गोला बारूद उनमें काम आता है । उसका अधिक अंश व्यर्थ ही जाता है । निशाने पर नहीं जाता, किन्तु ब्राह्मणदेव का तीर अचूक है, वह कभी ख़ता नहीं करता । वह तो अपने लक्ष्य पर पहुंच कर रहता है । राजा की युद्धसामग्री प्राकृत है; मनुष्यकृत है । ब्राह्मण के उपकरण दैवी हैं,

भगवत्प्रेरित हैं। अन्तर तो होना आवश्यक है! एक का आश्रय पशुबल है, दूसरे का सहारा देवबल है। अन्तरं महदन्तरम् !!

राजा के सिपाही अभ्यास करने के लिए दिन रात शस्त्रास्त्र का प्रयोग करते रहते हैं। यहां इस अस्त्र को सावधानी से गुप्त रक्खा जाता है। प्रयोग करते हुए बहुत 'मीन मेष' करनी पड़ती है। जो एक लक्ष्य को सामने रखकर बार बार प्रहार कर रहा है, वह बता रहा है कि उसके शर व्यर्थ जा रहे हैं। इधर तो अमोघवाणी शस्त्र है। यहां तो वाग्बाण है। भला स्वप्न में भी जो किसी का बुरा नहीं चेतता, अनृत नहीं बोलता, व्यर्थ वचन नहीं कहता। उसका बल कितना अपरिमेय है। यही सत्यवाक् यथार्थ वचन ब्राह्मण का तेज़ तीर है, तीक्ष्ण इषु है। योगी, धार्मिक, तपस्वी लोग विना किसी सेना के कैसे देश के देश पलट देते हैं। तोप तलवार के विना मधुर एवं सत्यवाणी कितना प्रभाव रखती है, यह धार्मिक इतिहास के पाठकों से अविदित नहीं है।

शत्रु को हरा कर युद्ध में कभी कभी शत्रु का पीछा भी किया जाता है। पीछा करने के लिए या तो दौड़ना होता है या यान द्वारा जाना होता है। यहां भी शत्रु का पीछा करना है किसके द्वारा? मन्यु और तप के द्वारा। शत्रु से पाप छुड़ाना है, अत्याचार बन्द कराना है तो क्या उस पर क्रोध करके? नहीं। कदापि नहीं। उत्कट विचार से, तीव्र भावना से। मन्यु यद्यपि क्रोध के लिए भी प्रयुक्त होता है, परन्तु वास्तव अर्थ इसका 'विचार' है। क्रोध तो विचार का घातक है। वहां, मन्यु को क्रोध ही कहना हो, तो वह क्रोध जो अपने ऊपर हो, अपनी असमर्थता पर हो। जब ऐसा क्रोध = मन्यु पैदा होगा, तो उसी मात्रा में उसके अनुरूप तप = चिन्ता और विलापरहित कष्टसहन का सामर्थ्य भी उत्पन्न होगा। विरोधी की सर्वथा हिताकांक्षा करते हुए, उसे कोई कष्ट न देकर, कोई क्लेश न पहुंचा कर स्वयं कष्ट सहना इतना अमोघ है

कि वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी वास्ते वेद कहता है–'न सा मृषा' ब्राह्मण का अस्त्र निष्फल नहीं जाता।

हां, इतना स्मरण रहे, यह दुर्बल का, कायर–डरपोक का अस्त्र नहीं है। यह महाशक्तिशाली बलिष्ठ का अस्त्र है। दुर्बल, कायर तो साधारण से भय के सामने होते ही कांप उठेगा। उसमें कष्टसहन का सामर्थ्य कहां?

इस अस्त्र में एक और गुण है और विलक्षण गुण है। तोप, बन्दूक किसी सीमा तक ही मार कर सकते हैं। उनकी पहुंच से परे की वस्तु पर उनका कोई प्रभाव नहीं। इस ब्रह्मास्त्र में तो यह अद्भुत शक्ति है कि दूरस्थ से दूरस्थ शत्रु को भी हिला देता है। कंपा देता है। लक्ष्य चाहे सात समुद्र पार ही क्यों न हो, यह वहां उसे जा बींधेगा। मन्यु और तप से अनुगत यह शरसमूह इतना भयंकर है। इसके धारण करने वाला ब्राह्मण कितना प्रतापी हो सकता है। एक तरफ दूसरे को कष्ट देने, हानि पहुंचाने की तैयारी है, दूसरी ओर शत्रु की कल्याण कामना के लिए अपने ऊपर कष्ट सहन का आयोजन है। कौन विजयी होगा? क्या परपीड़क! कदापि नहीं। कष्ट सहन करने वाले के साथी स्वयं भगवान् हैं, उन्होंने स्वयं हथियार बना कर दिए हैं। आत्मा के सामने प्रकृति का विजय! असंभव! सर्वथा असंभव!! सत्य के सामने असत्य की जीत! अनहोनी बात!! 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अन्त में सत्य ही की जय होती है। पूर्ण हृदयबल के साथ उठाया यह सत्यास्त्र विफल नहीं हो सकता। सत्य ही ब्राह्मण का परमास्त्र है। अमोघ शक्ति है। इसके द्वारा वह दूर से दूर बैठे शत्रु को हरा देता है। प्रभो! सबको सत्य बल दो।

अत्याचारी का पराभव अवश्यंभावी है

ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्या पराभवन् ॥ १० ॥

(ये) जो (सहस्रं) हजारों (अराजन्) शोभायमान होते हैं, जो हज़ारों पर राज्य करते हैं (उत) और जो (दशशताः) सैकड़ों (आसन्) होते हैं। (ते) वे (वैतहव्याः) वीतहव्य = जनधन को नष्ट करने वाले, Public fund = प्रजा से प्राप्त कर को स्वार्थ में व्यय करने वाले (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गां) गौ = वाणी को (जध्वा) खाने = दबाने के कारण (पराभवन्) हार जाते हैं, नष्ट होते हैं।

प्रजा राजा को कर देती है, ऐश करने के लिए नहीं, भोग विलास के लिए नहीं। वह तो प्रजा की धरोहर है, उसे प्रजाहित में व्यय करना चाहिए।

प्रमादी, घमण्डी राजा या शासनसंस्थान अभिमान में आकर इस तत्व को भूल जाता है, वह अमानत में ख़यानत करने लगता है। वह समझता है, प्रजा मेरी दासी है, इसको धन रखने का कोई अधिकार नहीं। प्रजा की सब संपत्ति मेरे लिए है। अतः मुझे इसें यथेच्छ खर्च कर डालने का नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है। वह मनुष्य से असुर बनता है, क्योंकि राज्य एक यज्ञ है। प्रजा का दिया कर 'हविः' है। 'हविः' के अधिकारी देव होते हैं। राष्ट्रयज्ञ के देव प्रजाहितसाधक अनुष्ठान के अतिरिक्त क्या हो सकते हैं? देवार्पित हविः को देवों को न देकर स्वयं हड़पने वाला राक्षस कहलाता है। यहां उसे 'वैतहव्य' कहा गया है। जो हव्य = प्रजा से प्राप्त कर को स्वार्थ के लिये वीत = नष्ट करे, उसे वीतहव्य और वैतहव्य कहते हैं।

ब्राह्मण से राजा का यह अनाचार देखा नहीं जाता, वह अपनी गौ = वाणी को उकसाता है। ऐश्वर्यमदोन्मत्त राजा, वैतहव्य = राक्षस

राजा इस गौ को भी खा जाता है, ब्राह्मणवाणी को दबा देता है। परिणाम बड़ा भयंकर होता है। यद्यपि वे वैतहव्य स्वयं हज़ारों की संख्या में होते हैं, हज़ारों लाखों उनके अनुयायी होते लेकिन हार जाते हैं। कैसे हारते हैं यह अगले मन्त्रों में वर्णित है, वहीं देखिए, स्वयं वेद के शब्दों में देखिए—

ब्रह्मवाणी की अवहेलना का कुफल

गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत्।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥ ११ ॥

(ये) जो वीतहव्य (केसरप्राबन्धायाः) सुख प्रसार के लिए सदा खुली रहने वाली इस गौ = वाणी की (चरमाजां) अन्तिम चेतावनी = Wrining को भी (अपेचिरन्) पचा जाते हैं, अनसुना कर देते हैं, (तान् वैतहव्यान्) उन वीतहव्यों को यह (हन्यमाना) मारी जाती हुई, दबाई जाती हुई (गौः) गौ = वाणी (एव) ही (अवातिरत्) हरा देती है।

ब्राह्मण स्वभाव से शान्तिप्रिय होता है। वह एकबारगी कुछ नहीं कर डालता। कुछ करने से पहले, कार्य्यक्षेत्र में उतरने से पूर्व, वह बहुत सोचता है। अपने कार्य्य के संभाव्य फलाफल का गहरा विचार करता है। स्वपक्ष एवं परपक्ष पर होने वाले प्रभाव का सम्यक् विवेचन करता है। इतना करके भी वह सहसा प्रवृत्त नहीं होता, उसे तो 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्' (अचानक कोई काम न करो अविचार अनेक आपदाओं का घर है), सदा स्मरण रहता है, उसे अपने उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान होता है। वह जानता है कि उसके ज़रा से अविवेक से, थोड़ी सी असावधानता से कितना भयंकर एवं बीभत्स परिणाम हो सकता है। इस वास्ते वह स्वयं पूर्ण विचार करके भी

राजा को अवसर देता है, उसे चिताता है। क्या एक बार ? नहीं, अनेक बार। इसी भाव को द्योतित करने के लिए मन्त्र में 'चरम + अजाम्' आखिरी अजा = चेष्टा = हरकत = सुझाना पद प्रयुक्त हुआ है। 'चरमाजा' शब्द बताता है कि ब्राह्मण अपना ब्रह्मास्त्र उठाने से पूर्व कई अज = प्रयत्न करता है। उनमें सफलता न देखकर इस अन्तिम ब्रह्मास्त्र को उठाता है, यह तो अमोघ है। इसके वार को कौन रोक सकता है वेद कहता है, यह अन्तिम अस्त्र 'ब्रह्मगवी' है। राजा इसे खा जाता है किन्तु यह भक्ष्यमाणा = खाई जाती हुई राजा को खा जाती है। ब्राह्मण को दबाने से प्रजा में भयंकर विद्रोह उठता है। प्रजा विचलित हो उठती है, इसे अचल रखने वाला, शान्त करने वाला तो अब है नहीं। अतः राजा का सिंहासन हिल जाता है। कदाचित् इसी मन्त्र को सामने रखकर मनु महाराज ने "धर्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षितः" कहा है। धर्म्म की रक्षा करो, वह तुम्हारी रक्षा करता रहेगा, धर्म्म का घात करो वह तुम्हें समाप्त कर देगा। धारक शक्ति ही धर्म्म है राजा की मूल धारक शक्ति प्रजा है। जब प्रजा का विनाश करने पर राजा उतर आया है, तो समझो कि वह अपने विनाश पर उद्यत है। इसी वास्ते वेद ने 'गौरेवतान् हन्यमाना—' कहा है।

ब्राह्मण की वाणी तो 'के-सर-प्राबन्धा' = क = सुख, सर = प्रसार का प्रबन्ध करने वाली है। जब सुखप्रसारप्रबन्धिका = केसरप्रबन्धा गौ नष्ट कर दी गई, तब तो दुःख, आपद्, विपद् ही का प्रसार तथा प्रचार होगा। यह स्वाभाविक भी है। अतः इस ब्रह्मगौ की पालना ही करनी योग्य है। इसका हनन अनेक विपत्तियों का मूल है।

———

८

वीतहव्य की अचानक हार

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत् ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ १२ ॥

(ताः जनताः) वह जनता (एकशतं) सैकड़ों की संख्या में होती है, (या) जिसे (भूमिः) मातृभूमि (व्यधूनुत्) कंपित करती है। अतएव (ब्राह्मणीं) ब्राह्मण की वशवर्त्तिनी (प्रजां) प्रजा को (हिंसित्वा) हनन करके, सता कर, वे वीतहव्य (असंभव्यं) अचानक ही (पराभवन्) हार जाते हैं।

यदि राजा ठीक ठीक रीति से प्रजा का पालन करे, तो वह प्रजा का पिता है। प्रजा शब्द सन्तान का पर्याय सा है, किन्तु जो राजा प्रजा का पालन न करे, प्रजा से प्राप्त 'कर' को स्वार्थ में व्यय करे, वह राजा 'प्रजा' को कैसे 'प्रजा' कह सकता है। प्रजा भी उसको 'पिता' मानने से इन्कार कर देती है। ब्राह्मण लोकप्रिय, निस्स्वार्थ प्रजासेवक नेता हां प्रजा का पिता बन जाता है। प्रजा अब 'ब्राह्मणी प्रजा' ब्राह्मण की सन्तान बन गई है।

सैन्यबलसंपन्न राजा उस क्षीणकाय ब्राह्मण को हेय, तुच्छ समझकर उसकी हितोपदेशना को ठुकरा देता है। समझता है, यह ब्राह्मण मेरा कर ही क्या सकता है, इसे मसलने में लगता ही क्या है, किन्तु ज्यों ही वह इस अकरणीय करतूत को करता है, त्यों ही वह तथा उसके साथी भौंचक्के रह जाते हैं। प्रजा में भयावह आवेश आता है, वह राजा को राजसिंहासन से च्युत कर देती है। मातृभूमि की भक्ति लोगों में एक विशेष जोश पैदा कर देती है। अपने पिता नेता का अपमान प्रजा को व्यग्र कर देता है और तब लोग देखते हैं कि जो असंभव समझा जाता था वह तो एक साधारण बात निकली। कल जो नामुमकिन था, आज वह एक मामूली सी घटना है। अपने पराए चकित हैं। कल जो भेड़ की

भाँति मिम्याती थी, आज सिंहगर्जना कर रही है। तब राजा को ब्राह्मण की शक्ति का ज्ञान होता है, जब अनहोनी हो लेती है, किन्तु अब तो अवसर नहीं रहा। अब तो 'अब पछिताये का होत जब चिड़ियां चुग गईं खेत ॥'

देवद्रोही का वंशनाश

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु
गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति
न स पितृयाणमप्येति लोकम्॥ १३॥

अन्त में (देवपीयुः) देवद्रोही (मर्त्येषु) लोगों में (गरगीर्णः) विषपान किए हुए पुरुष की भाँति (चरति) विचरता है और अतएव (अस्थिभूयान्) हड्डीमात्र (भवति) हो जाता है। (यः) जो (देवबन्धुं) देवबन्धु = प्रजाबन्धु (ब्राह्मणं) ब्राह्मण को (हिनस्ति) मारता है, (सः) वह (पितृयाणं लोकं) पितृयान लोक को (अपि) भी (न) नहीं (एति) प्राप्त होता, अर्थात् उसका वंश नष्ट हो जाता है।

इस मन्त्र में 'ब्राह्मण' का विशेषण 'देवबन्धु' दिया गया है। यह विशेषण ब्राह्मण के महत्व तथा उसकी अवध्यता के कारण को सूचित कर रहा है। ब्राह्मण देवबन्धु = देव का बन्धु है। देव = परमात्मा का बन्धु वही हो सकता है, जो उसकी आज्ञा = नियम का पालन करे। ब्राह्मण तो प्रभु के आदेश का पालन करता है, सदा क्रतुनिष्ठ है, भोग विलास से विरक्त है, किन्तु उसके विपरीत प्रजाद्रोही राजा भोग में आसक्त है। भोग से वह इतना अन्धा हुआ है कि उचित अनुचित किसी का भी विचार नहीं करता। उसकी भोगाभिलाषा, भोगलिप्सा उद्दीप्त हो रही है, उसके कारण वह भोग के साधारण नियमों का भी उल्लंघन करने

लगता है, मर्यादा का अतिक्रमण करता है, सीमा पार करता है। फल ! आह ! भोग में आसक्त होने के कारण निश्रेयस से, मोक्ष से तो वह पहले ही दूर जा पड़ा था, कदाचित् संयमित भोग करता तो किसी समय उससे हट कर, अनासक्त होकर अपवर्ग मार्ग को ग्रहण कर सकता, किन्तु यह तो भोग-प्रवाह में बह गया है। भोग के विषकीट ने इसका शरीर खा लिया है, अब तो यह हड्डियों का ढांचामात्र रह गया है। वेद ने करुणा भरे हृदयग्राही शब्दों में इसका वर्णन किया है—

"देवपीयुश्चरति मर्त्येषु
गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ॥"

देवपीयु = दैव भाव का घातक, प्रजाद्रोही मनुष्यों में विष पिए हुए की भांति विचरता है, वह अस्थिबहुल हो जाता है। कितना भयंकर परिणाम है, किन्तु क्या यहीं समाप्ति होती है ? नहीं, अभी, इसकी दुर्गति पूरी नहीं हुई। भोग—असंयत अन्धाधुन्ध भोग के कारण शारीरिक संपत्ति सारी लुट गई है। जननशक्ति का ह्रास हो गया है, अब कुल चलने का भी कोई ढंग नहीं, वंशनाश ! पीछे नाम-लेवा भी कोई नहीं। मोक्ष हाथ से गंवाया, भोगजन्य = पितृयान = खानदान चलाने का ढब भी जाता रहा। यदि दैवात् सन्तान हो भी, तो क्षुब्ध प्रजा के हाथों उसकी खैर नहीं, इसी भाव को 'न स पितृयाणमप्येति लोकम्' वाक्य में कहा गया है। यह है भी स्वाभाविक। देवबन्धु और देवपीयु के संग्राम का यही फल होता है। कुछ काल के लिए देवपीयु भले ही फलता फूलता दीखे, किन्तु अन्त में उसकी हार ही बदी है। इसके विपरीत आरंभ में देवबन्धु पर घोर विपत्ति का होना सर्वथा संभव है, परन्तु दैवी नियम के अनुसार विजयमाल तो उसे ही मिलती है।

———

ब्राह्मणों का ढारस

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते ।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः ॥ १४ ॥

(अग्निः) ज्ञानस्वरूप प्रभु (वै) ही (नः) हमारा (पदवायः) पथप्रदर्शक है, (सोमः) सोम, अनुचित से हटाने वाला हमारा (दायादः उच्यते) दायाद कहा जाता है । (इन्द्रः) इन्द्र (अभिशस्ता हन्ता) विपत्तिघाती है, (वेधसः) ज्ञानी लोग (तद्) इस बात को (तथा) ठीक ठीक (विदुः) जानते हैं ।

भगवान् का भरोसा बड़ी चीज़ है । यह ब्राह्मण इतना कष्टसाध्य महत्कार्य्य किसके सहारे करता है ? यह मन्त्र बतलाता है, भगवान् के सहारे । ब्राह्मण कहता है—"अग्निर्वै नः पदवायः" सबको आगे ले जाने वाला ज्ञानस्वरूप भगवान् हमारा पथप्रदर्शक है । अन्तरात्मा परमात्मा ही हमें मार्ग दिखाते हैं । सोम = अनुचित कार्य्य से हटा कर सदा शान्तिप्रदाता विधाता हमारा संबन्धी है । हमारा उत्तराधिकारी है । हमसे जो नहीं होता, उसे वही करता है, अतः हमें कोई चिन्ता नहीं । आपत्तियों का भय तो हमें है ही नहीं । भगवान् के आदेश का पालन करने चले हैं । मार्ग की बाधाओं, रुकावटों को दूर करना उसी का काम है, वह सदा इन विपत्तियों को दूर करता ही रहता है । 'इन्द्र' का अर्थ ही 'इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा' शक्तिसंपन्न और शत्रुओं का नाशक या द्रावक = भगाने वाला भगवान् की भिन्न शक्तियों के कारण भगवान् के अनेक नाम हैं । भावुक भक्त गुणानुरूप नाम से भगवान् का स्मरण करता है । इन्द्र, अग्नि, सोम आदि सब परमात्मा की विविध शक्तियों के द्योतक नाम हैं । कोई पृथक् देव नहीं । सोम को यहां 'दायाद' कहा गया है । सोम = उमया सहितः सोमः । उमा - उ + मा, ऊं, यह नहीं, इस बुद्धि से युक्त को सोम कहते हैं । देवपीयु ने

निषिद्ध कर्मों से वारण करने वाली वाणी का सुनना बन्द किया है, तभी तो देवपीयु बना है, किन्तु ब्राह्मण तो सोमदेव की 'यह मत करना' ऐसी देववाणी को सदा ध्यान से सुनता है। इसी वास्ते देवपीयु से बहुत सताया जाने पर, अत्यन्त उत्तेजित किया जाने पर भी वह अनीति का, कुमार्ग का, अन्याय का अवलंबन नहीं करता और इसी वास्ते वह देवबन्धु है और अन्त में जय पाता है। देवपीयु इस सोम का पान नहीं करता, परमात्मा के आदेश को नहीं सुनता, अन्तरात्मा की ध्वनि की अवहेलना करता है। देवपीयु देव=प्रभु या दिव्यादेश का पीयु= हिंसक, अवज्ञा करने वाला है। जो परमात्मा की या उसके आदेश की अवहेलना करे, उसे तिरस्कृत करने का यत्न करे, वह कैसे जीत सकता है, जीतना तो दूर, उसके लिए तो जीना भी दुःशक हो जाता है। सोम जीवनदाता है, यह उसे पान ही नहीं करता, तो भला जिए तो कैसे जिए। सोमपान के कारण देवबन्धु का जय होता है और न करने के कारण देवपीयु का पराजय होता है।

चेतावनी

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते।
सा ब्रह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः॥ १५॥

हे (नृपते) प्रजापालक नरेश ! (दिग्धा) विष में सने (इषुः) तीर की (इव) तरह और (पृदाकूः+इव) सर्पिणी की भांति (सा) वह ब्रह्मवाणी ही (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण का (घोरा) भयंकर (इषुः) तीर, हथियार है, हे (गोपते) गोपालक राजन् ! (तया) उसी से वह (पीयतः) प्रजापीड़कों को (विध्यति) बींधता है।

यहां एक विचित्र बात कही गई है। यहां वेद ने गौ को इषु = तीर कहा है। ब्राह्मण के तीर का ८ वें मन्त्र में वर्णन है। वहां ब्राह्मण की वाक-

शक्ति को ही धनुष् कहा है, बोले हुए शब्दों को वाणदण्ड कहा गया है। अब सोचिए। तीसरे मन्त्र में ब्राह्मण की गौ को सर्पिणी से उपमा दी है। यहां फिर उसे सर्पिणी बताया है। इस प्रकार इससे स्पष्ट है कि इस सूक्त में वर्णित ब्राह्मणगौ = ब्राह्मण की वाणी के अतिरिक्त और कुछ नहीं। राजा को सावधान करने के लिए, उसके कर्त्तव्य की ओर उसे जागरूक करने के लिए उसे 'नृपति' तथा 'गोपति' कहा गया है। राजा नृपति = नरपालक होना चाहिए, नरघालक नहीं, गोपालक होना चाहिए गोघातक नहीं। जो राजा नरपालक न होकर नरघालक हो जाता है, गोपालक के बदले गोघातक बन जाता है, उसका जो परिणाम होता है, वह पहले कहा जा चुका है, इसमें भी फिर कह दिया गया है।

प्रजाद्रोही की क्या दुर्दशा होती है, इसका हृदयद्रावक वर्णन इस सूक्त में आया है। प्रजानेता को भी सावधान किया है, उसे सदा देव-बन्धु रहना चाहिए, अन्यथा उसका भी वही परिणाम होगा।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकेण श्रीवेदानन्देत्यन्वर्थापराभिधानेन श्रीदयानन्दतीर्थस्वामिना विरचिता अथर्ववेदीय (५-१८) ब्रह्मगवीसूक्त-व्याख्या संपूर्त्तिमगात्।

* ओं शम् *

ओ३म्

ऋग्वेदीय

स्वराज्य सूक्त

(ऋ० १ । ८०)

व्याख्याकार—

वे० शा० श्री स्वामी वेदानन्द [दयानन्द] तीर्थ

ओ३म्

वक्तव्य

जिस प्रकार इस समय के भारतीय महापुरुषों में से सब से पूर्व 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग महर्षि श्रीमत्स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने किया है, उसी प्रकार संसार के मत-मतान्तरों के ग्रन्थों में सत्यधर्म्म = केवल धर्म्म के प्रतिपादक वेद ने सब से पहले इस पुनीत शब्द का प्रयोग किया है।

'बहुपाय्ये स्वराज्ये यतेमहि' (ऋ० ५ । ६६ । ६) आदि स्वराज्य की महिमा और उसके स्वरूप के प्रतिपादक अनेक वाक्य वेद में पाए जाते हैं।

वेद में मनुष्य के कामलायक—इस लोक और परलोकसंबन्धी—संपूर्ण ज्ञान विद्यमान है। केवल अनुसन्धाता की कमी है।

वेद सब क्षेत्रों में स्वराज्य का पक्षपाती है। आध्यात्मिक, शारीरिक सब प्रकार का स्वराज्य प्राप्त कराना वेद का ध्येय है।

वेद के स्वराज्य में द्वेष और ईर्ष्या की गुंजायश नहीं है। वेद का स्वराज्य किसी एक जाति या समुदाय के लिए नहीं है। यहां तो मनुष्य के लिए स्वराज्य का विधान है।

यद्यपि वेद में अनेक स्थानों पर स्वराज्य की चर्चा है, तथापि मैंने केवल एक ही सूक्त यहां दिया है। यदि लोगों को यह रुचा, तो वैदिक स्वराज्यसंबन्धी अन्य मन्त्रों की व्याख्या भी की जायगी। इति ॥

वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

———

ओ३म्

स्वराज्य सूक्त

(ऋग्वेद १ मं० । ८० सू०)

अहि-नाश

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननुस्वराज्यम् ॥१

हे (शविष्ठ) अत्यन्त बलशालिन् (वज्रिन्) शस्त्रास्त्र विद्या में निपुण राजसभाध्यक्ष ! (स्वराज्यं) स्वराज्य के (अनु) अनुकूल (अर्चन्) प्रजा का रंजन करता हुआ तू (ओजसा) अपनी शक्ति से, पुरुषार्थ से (पृथिव्याः) पृथिवी पर से (अहिं) अज्ञान, अन्धकार, दुष्ट और कुटिल स्वभाव वाले को (निः) पूर्णतया (शशाः) बाहर कर दे, (इत्था) इस प्रकार (हि) ही (ब्रह्मा) चारों वेदों का जानने वाला महाविद्वान् (सोमे) ज्ञान में, ऐश्वर्य में तथा (मदे) हर्ष में, लोक सुख में (वर्धनं) वृद्धि, बढ़ती (इत्) ही (चकार) कर सकेगा ।

अथवा—हे (शविष्ठ वज्रिन्) बलसंपन्न शत्रुवारण-सामर्थ्यवन् राजन् ! (अनु) प्रजाजनों की अनुकूलता से (स्वराज्यम्) अपने राज्य का (अर्चन्) पूजन करता हुआ [रक्षादि के द्वारा] (अहिं) आकर हमला करने वाले शत्रु को (पृथिव्याः) पृथिवी से (निःशशाः) सर्वथा दूर कर । शेष पूर्ववत् ।

अथवा—आध्यात्मिकपक्ष—हे (शविष्ठ) बलवन् ! (वज्रिन्) पापवारक शक्तिमन् ! (पृथिव्याः) अपने शरीर से (अहिं) बाहर से आकर आक्रमण करने वाले पापविचार, पापाचार को (निः शशाः)

सर्वथा नाश कर । (हि) क्योंकि (इत्था) इस भांति से (ब्रह्मा) सर्वतो महान्, परम ज्ञानवान् भगवान्, प्राणियों की (सोमे) सांसारिक सुख, ज्ञान में तथा (मदे) आनन्द में (वर्धनं) बढ़ती (इत्) ही (चकार) करते हैं ।

स्वराज्य प्राप्त करलेना इतना कठिन नहीं, जितना स्वराज्य का रक्षण कठिन एवं कष्टसाध्य होता है । प्रजावर्ग की अविद्या स्वराज्यप्राप्ति तथा स्वराज्यपालन में सब से बड़ी बाधा उपस्थित किया करती है । स्वराज्य का क्या महत्व है, स्वराज्यप्राप्त मनुष्य को संसार के लोग क्या समझते हैं ? इत्यादि का ज्ञान न होने से प्रथम तो लोग स्वराज्यप्राप्ति के निमित्त यत्न ही नहीं करते । यदि किसी प्रकार स्वराज्य प्राप्त भी कर लिया, तो स्वराज्यप्राप्ति में हुए परिश्रम से क्लान्त हो, हतोत्साह हो, उसकी रक्षा के यत्न से उदासीन हो जाते हैं । तब बाहिरी शत्रु या देश के अन्दर छिपा शत्रु अवसर पाकर आक्रमण करदेता है । जिससे फिर गड़बड़ उत्पन्न हो जाती है । वेद उपदेश करता है कि अहि को, हमला करने वाले को सर्वथा नाश कर दो, तभी राज्य में विद्या, सुख, ऐश्वर्य की वृद्धि होगी ।

वेद की यह एक साधारण सी विशेषता है, कि वह साधारण शब्दों द्वारा महत्वपूर्ण उपदेश देता है । 'अहि' का अर्थ 'सांप' समझा जाता है । सांप कुटिल स्वभाव का होता है । तो साधारण रीति से 'अहि का अर्थ कुटिलता या कुटिल हुआ । किसी देश से कुटिलता या कुटिल स्वभाव वालों का दूर करना कितना आवश्यक है, इसके बताने की आवश्यकता नहीं ।

'अहि और वृत्र' वैदिक साहित्य में पर्य्यायवाचक शब्द माने गए हैं । वृत्र का अर्थ है आच्छादक, ढांकने वाले, रोकने वाले । मेघ को वृत्र इसी कारण से कहा जाता है, कि वह सूर्य्यप्रकाश को रोक देता है । तो जो प्रजा के सुख को रोक दे, ज्ञानप्रसार को रोक दे, विद्याविस्तार को बन्द कर दे, वह वृत्र हुआ । ऐसे वृत्र का, अहि का शीघ्र देशनिकाला

होना चाहिए। जिस देश में अविद्या हो, वहां किसी प्रकार का प्रकाश, सुख ऐश्वर्य रह ही नहीं सकता, श्री सायणाचार्य्य ने 'अहिं आगत्य हन्तारं' लिखा है। जो आकर मारदे। बाहर से आकर हमला करके मार दे। अथवा देश में रहता हुआ विश्वास उत्पन्न करके मारदे, वह अहि हुआ। ऐसे का सर्वथा नाश ही राष्ट्र के लिए कल्याणकारक है। जिस देश में विद्याविरोधी, अन्दर बाहर के शत्रुओं का अभाव होता है, उस देश के बुद्धिमान् विद्वान् देश में लोकपरलोकसुखसाधिका विद्या का प्रचार कर लोगों को लोक परलोक के सुख का भागी बना देते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष—मनुष्य का यह शरीर आत्मा का राज्य है। किन्तु पूर्वकृत कुकर्म्मों तथा वर्त्तमान प्रमाद के कारण अनेक मनुष्यों का अपने इस शरीर पर कोई अधिकार नहीं। उनकी इन्द्रियां तथा मन उनके अधीन नहीं हैं। इस सबका कारण स्वरूप का अज्ञान है। मनुष्य को जब तक देहात्मभेद का ज्ञान होकर अपने स्वामित्व का बोध नहीं होता, तब तक वह शरीर का राजा होता हुआ भी शरीर का सेवक रहता है। शरीरादि को अपने अनुकूल न चला कर स्वयं इन के अनुकूल चलता है। वेद कहता है—इस सब उपद्रव के मूल अज्ञान को अपने शरीरादि से दूर कर।

इस पक्ष में कार्य्यकारण के अभेदोपचार से पृथिवी का अर्थ पार्थिव शरीर किया गया है। जब आत्मा अनर्थमूला अविद्या का सर्वथा नाश कर देता है, तब वह अभ्युदय और निःश्रेयस का भागी होकर लोक तथा परलोक में निर्बाध सुख और आनन्द पाता है।

———

स्वराज्य हितकारी राज्य कर

स त्वामदद् वृषा मदः सोमः श्येनाभृतः सुतः।
येना वृत्रं निरद्भ्यो जघन्थ वज्रिन्नोजसार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥२॥

हे (वज्रिन्) वज्रधारिन् सभाध्यक्ष ! (येन) जिस न्यायसुख-वर्षक सोम के द्वारा (ओजसा) अपनी शक्ति के अनुसार (स्वराज्यं + अनु + अर्चन्) स्वराज्य शासन के अनुकूल प्रजाओं का पालन करता हुआ (त्वं) तू (अद्भ्यः) जल समान प्रजाओं से (वृत्रं) मेघ समान कर को (निः) पूर्णतया (जघन्थ) प्राप्त करता है। अथवा (अद्भ्यः) राष्ट्ररूप अन्तरिक्ष से (वृत्रं) अज्ञान, शत्रुरूप वृत्र को (निर् + जघन्थ) सर्वथा नाश करता है। (सः) वह (वृषा) न्यायसुख की वर्षा करने वाला (मदः) आनन्ददायक (श्येनाभृतः) ज्ञानियों से प्राप्त कराया गया (सुतः) अच्छी प्रकार साधा हुआ (सोमः) ज्ञान, ऐश्वर्य अथवा कर (त्वा) तुझको (असदत्) हर्षित करता है।

जघन्थ–हन् धातु से बनता है, हन् का अर्थ गति भी होता है, गति के तीन अर्थ हैं–ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति।

श्येनाभृतः—श्येन का अर्थ साधारणतया बाज़ पक्षी होता है। वेद में शीघ्रकारी, वृद्धिकारी, ज्ञानकारी आदि अर्थ लिए जाते हैं। श्येन का अर्थ यदि पक्षी भी लिया जाय, तब भी कोई दोष नहीं। तब इस पद का अर्थ होगा, श्येन पक्षी के समान वेगवान् ज्ञानियों तथा शूरों से प्राप्त कराया गया।

श्री सायणाचार्य जी ने यहां 'श्येनाभृतः' का अर्थ "श्येनरूपमापन्नया पक्ष्याकारया गायत्र्या दिवः सकाशादाहृतः" [श्येनरूप को प्राप्त हुई, पक्षी के आकार वाली, गायत्री द्वारा द्यौलोक से लाया गया] किया गया है। वेद में पुराण के गपोड़े घुसेड़ने का सायणाचार्य्यजी का स्वभाव है। गायत्री तो वेद के एक छन्द का नाम है, किन्तु सायणाचार्य्यजी

इसे एक मूर्त्त रूप देकर पक्षी बना देते हैं। उनका किया अर्थ कहां तक युक्त है, यह हम पाठकों पर छोड़ते हैं।

संपूर्ण सत्काव्यों की तरह वेद में उपमादि अलंकार का प्रयोग होता है। 'श्येन' का अर्थ बाज़ पक्षी मान कर भी यदि श्येन का अर्थ श्येन जैसा करदें, तो साहित्यिक दृष्टि से निर्दोष हो जाता है और अर्थ भी असंगत नहीं रहता।

'अद्भ्यः' का एक अर्थ हमने 'राष्ट्ररूप अन्तरिक्ष' किया है। निघण्टु में अन्तरिक्ष के नामों में 'आपः' शब्द का पाठ मिलता है।

स्वराज्यरक्षा के लिए प्रजा से राजा कर लेता है, वह आवश्यक भी है, उसके विना राज्यशासन चलना असंभव होता है, किन्तु वह न्याययुक्त होना चाहिए। उसका परिणाम या साधन प्रजापीड़न नहीं होना चाहिए। प्रजा को यह अनुभव होना चाहिए, कि हम से लिया गया कर हमारे रक्षण एवं सुखवृद्धि के लिए प्रयुक्त होगा। इससे हमारा संहार न किया जायगा। ऐसा कर राजा या राष्ट्राध्यक्ष के भी आनन्द का हेतु होता है।

अध्यात्मपक्ष—(सः) वह (वृषा) सुखवर्षक (मदः) मस्ती देने वाला (श्येनाभृतः) श्येन के तुल्य पुरुषार्थी लोगों से धारण किया हुआ (सुतः) परिश्रम से साधित (सोमः) ज्ञानरूपी ऐश्वर्य्य (त्वा) तुझको (अमदत्) आनन्द देगा (येन) जिस के द्वारा तू ने (अद्भ्यः) अपनी इन्द्रियों से (वृत्रं) अज्ञान को (निर्जघन्थ) नाश कर दिया, तब तू (स्वराज्यम् + अनु + अर्चन्) आत्मराज्य, आत्मप्रकाश के अनुसार अर्चना कर सकेगा॥

मनुष्य अपना सारा व्यवहार इन्द्रियों से सिद्ध करता है, किन्तु यदि मनुष्य ज्ञानी न हो, तो इन इन्द्रियों से अनर्थसाधन में लग जाए। अन्तःकरण पर अज्ञान का आवरण पड़ा हो, तो इन्द्रियां भी अज्ञानाछन्न

ही रहेंगी । अन्तःकरणानुसार ही तो वे काम करती हैं । इस वास्ते सदा ज्ञान अर्जन में लगे रहना चाहिए ।

ज्ञान गपोड़े हांकने से नहीं मिलता, उसके लिए पुरुषार्थ करना होता है । ज्ञान प्राप्त करके प्रमाद तथा आलस्य अथवा अनभ्यासवश प्राप्त ज्ञान का नाश भी हो जाता है, अतः प्राप्त ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए भी सदा पुरुषार्थ करना चाहिए । सारांश यह कि मनुष्य का जीवन सदा पुरुषार्थमय होना चाहिए । इन दोनों बातों को प्रकट करने के लिए इस मन्त्र में 'श्येनाभृतः, सुतः' शब्दों का प्रयोग हुआ है ।

ज्ञानार्जन एवं ज्ञानरक्षण का फल सुख तथा आनन्द होता है, यह सब के अनुभव की बात है । इसी वास्ते वेद में 'मदः' [मस्ती देने वाला] शब्द आया है । जो सच्चे ज्ञानी हैं, जिन्हों ने आत्मा परमात्मा का ज्ञान कर लिया है वे सदा मस्त रहते हैं, उन्हें क्लेश का लेश भी नहीं होता और वह ज्ञान 'वृषा' होता है । दूसरों पर भी सुखवृष्टि कराता है । आत्मज्ञानी का ज्ञान केवल स्वार्थसाधन के लिए नहीं होता, वह स्वार्थ के तुच्छ भाव से ऊपर उठकर अपने पराए की भेदभावना को मिटाकर सब पर सुख की वृष्टि करता है ।

स्वराज्यप्राप्त महापुरुष केवल अपने लिए ही स्वराज्य नहीं चाहते, वे तो सब को स्वराज्य दिलाना चाहते हैं । जिस प्रकार एक भक्त अभक्त-मण्डल के बीच रह कर अपना कार्य्य निर्विघ्न नहीं चला सकता, उसे अपने कार्य्य की सिद्धि के लिए पड़ोसियों को अपने विचारों का अनुगामी बनाना होता है, ठीक इसी प्रकार स्वकार्य्य निर्विघ्नतया साधन करने तथा संसार में शान्ति और समता रखने के लिए स्वराज्यप्राप्त राष्ट्र पराधीन राष्ट्रों को भी स्वाधीन कराएं, अन्यथा संसार में अशान्ति बनी रहेगी ।

प्रजारंजन

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥३॥

हे (इन्द्र) सूर्य्यसमान विद्याबलादि से प्रकाशमान राजन् ! (प्र+इहि) भली प्रकार समझ, (अभि+इहि) दोनों ओर से शत्रुओं को प्राप्त हो और (धृष्णुहि) शत्रुओं को दबा (ते) तेरा (वज्रः) वज्र (न) नहीं (नि+यंसते) रोका जा सकता । (नृम्णं) यश (हि) ही (ते) तेरा (शवः) बल है अथवा (हि) क्योंकि (ते+शवः) तेरा बल (नृम्णं) लोगों को झुकाने वाला है । इस वास्ते (स्वराज्यं) स्वराज्य का (अनु+अर्चन्) नियमानुसार रक्षण करता हुआ तू (वृत्रं) अज्ञान तथा स्वराज्यशत्रु को (हनः) मार और (अपः) प्रजाओं के मन को (जयाः) जीत ॥

कौन हमारा मित्र है तथा कौन शत्रु है, इसका ज्ञान राजा को होना चाहिए । जब जान लिया कि अमुक शत्रु है, तो उसके आने और आक्रमण करने की प्रतीक्षा में न बैठा रहे, अपितु उस पर चढ़ दौड़े और उसे दबा दे । वे राष्ट्र अपना स्वातन्त्र्य खो बैठते हैं, जो शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा करते रहते हैं । उनकी सदा जय होती है, जो शत्रु के घर पर उसे जा दबाते हैं ।

सचमुच प्रजा जिस राजा की सहायता पर तत्पर हो, उसका वज्र, उसके शस्त्रास्त्र अप्रतिहतगति होते हैं । प्रजारंजक राजा का बल उसका यश है । शत्रु भी ऐसे यशस्वी राजा का सामना करने का साहस नहीं कर सकते ।

अध्यात्मपक्ष—(इन्द्रः) ज्ञानशक्तिसंपन्न जीवात्मन् ! (प्र+इहि) खूब समझ ले कि तेरे मार्ग में क्या क्या रुकावटें हैं । उन सबका अभी से (अभीहि) मुकाबला कर और उन्हें (धृष्णुहि) दबा दे ।

अपने आपको तुच्छ और हीन मत समझ। जब तू पापवारक वज्रतुल्य संकल्प से तत्पर हो जाएगा, (न ते वज्रो नि+यंसते) तो तेरे संकल्प को कोई रोक न सकेगा। (ते शवः नृम्णं हि) तेरा बल सब विघ्न बाधाओं को झुका देने वाला है। इस वास्ते उठ ! (वृत्रं हनः) अज्ञान को मार और (अपः जयाः) इन्द्रियों को जीत।

विज्ञान, कर्म, उपासना, ज्ञान, यह चतुष्क आत्मसाधक के लिए अत्यन्तावश्यक साधन है। सबके गुण धर्म जानना विज्ञान है। विज्ञान के बल से ही हिताहित पदार्थों का बोध होता है। इसको कहने के लिये मन्त्र में 'प्रेहि' पद का प्रयोग है।

केवल जान लेने से कोई लाभ नहीं, यदि विज्ञानानुकूल प्रयत्न न किया, विज्ञान की सफलता कर्म में है, अतः वेद आदेश करता है, 'अभीहि, धृष्णुहि' इनका अर्थ यदि 'तू मित्रवर्ग को प्राप्त कर और शत्रुवर्ग को दबा' किया जाए, तो और भी सुन्दर हो जाता है।

निरुत्साहों को वेद उत्साह देता है—'न ते वज्रो नि यंसते।' पुरुषार्थ कर, तेरा वज्र = पापवारण प्रयत्न विफल न होगा, क्योंकि तेरी बड़ी शक्ति है।

कितने सुन्दर और मनोरम शब्द हैं। कैसा जीवनप्रद उत्साहवर्धक उपदेश है। इतने गंभीर उपदेश को कैसे सरल और थोड़े और छोटे छोटे शब्दों में प्रकट किया गया है ?

प्रजा को जीवधन्य बना

निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥

हे (इन्द्र) अज्ञाननिवारक, ज्ञानप्रसारक सभाध्यक्ष ! (भूम्याः+अधि) पृथिवी पर से तू (वृत्रं) अन्धकार को (निः+जघन्थ) पूर्ण-

तया नाश कर तथा (दिवः) द्यौलोक से भी (निः) पूर्णतया हटा । और (स्वराज्यं + अनु + अर्चन्) स्वराज्य के अनुसार व्यवहार करता हुआ तू इन (अपः) प्रजाओं को (मरुत्वतीः) प्राणशक्तिसंपन्न और (जीवधान्याः) जीवों में धन्य = श्रेष्ठ (अव सृज) बना ।

अप का अर्थ जल भी है । उस पक्ष में 'मरुत्वतीः' वायु वाली अर्थ होगा । अर्थात् जल में वायु कारणत्वेन है ।

मनुष्य को जीवधन्य 'अशरफुल् मख़लूक़ात्' सब प्राणियों में श्रेष्ठ कहा जाता है, परन्तु जीवधन्य बनाने में राजा का बहुत बड़ा भाग है। जहां परतन्त्रता है, पराधीनता है, वहां के मनुष्य कितने अधम होते हैं, इसके बताने की कोई आवश्यकता नहीं है । कोई ऐसा दुर्व्यसन नहीं, जिसमें पराधीन मनुष्य ग्रस्त न हों । और तो और पराधीन मनुष्य स्वाधीनता से विचारना भी छोड़ बैठता है । ऐसी स्थिति में मनुष्य जीवधन्य कैसे बनेगा ?

अध्यात्मपक्ष —हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (भूम्या) भूमि से = शरीर से तथा (दिवः) आत्मप्रकाश से वृत्र=अज्ञान को नाश कर । अपनी (अपः) इन्द्रियों को प्राणशक्तिसंपन्न तथा जीवधन्य = जीवन के लिए धन्य बनाओ ।

अज्ञाननाश किए विना इन्द्रियादिक वश में नहीं किए जा सकते ।

आक्रमण की रोकथाम

इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः ।

अभिक्रम्याव जिघ्नतेऽपः सर्माय चोदयन्नर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ५ ॥

जैसे (हीळितः) तिरस्कृत हुआ, अर्थात् मेघ से आच्छन्न होने पर मानो क्रुद्ध होकर (इन्द्रः) सूर्य (दोधतः) निरन्तर कम्पमान (वृत्रस्य) मेघ के (सानुं) शिखर पर (अभिक्रम्य) आक्रमण करके (वज्रेण) वज्र

के द्वारा छेदन- भेदन सामर्थ्य के द्वारा (अपः) जलों को (सर्माय) बहने के लिए (चोदयन्) प्रेरता हुआ (अव) नीचे (जिघ्नते) मार गिराता है, तद्वत् हे राजन् ! तू भी (स्वराज्य) अपनी राजशक्ति = प्रजा का (अनु) अनुकूलता से (अर्चन्) पूजन = मनोरंजन करता हुआ (हीलितः) शत्रु से तिरस्कृत होने पर (दोधतः) कंपमान, क्रोधी (वृत्रस्य) मेघसमान शत्रु के (सानुं) शिखरसमान उत्तमांग पर (अभिक्रम्य) हमला करके (सर्माय) अनुकूल चलने के लिए (चोदयन्) प्रेरता हुआ (अपः) जलतुल्य शत्रु सेना को (वज्रेण) वज्र से (अव + जिघ्नते) नीचा दिखा ।

बादल सूर्य्य के आगे आकर उसका प्रकाश रोक देता है । सूर्य्य वज्र-समान अपनी किरणों की छेदनभेदनशक्तिद्वारा मेघ से जल बरसाता है । ठीक इसी भाँति राजा का कर्त्तव्य है, कि आए शत्रु पर अपनी संचित शक्ति द्वारा साम, दाम, दण्ड, भेद का यथावसर प्रयोग कर उसे परास्त करे और अपने प्रजावर्ग का हित साधे । जो राजा प्रजा के मनोनुकूल व्यवहार करता है, जिसे प्रजावर्ग अपने में से ही समझते हैं, उस राजा का किसी से पराजय हो ही नहीं सकता । प्रथम तो उस स्वराज्यस्थ राजा पर कोई शत्रु आक्रमण करने का साहस ही नहीं करता, यदि कोई कर बैठता है तो सूर्य्य द्वारा मेघ के समान छिन्नभिन्न हो जाता है ।

स्वराज्य का लाभ

अधि सानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा ।
मन्दान इन्द्रो अन्धसः सखिभ्यो गातुमिच्छत्यर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥६॥

इन्द्रः = राजा (शतपर्वणा) सैकड़ों पर्वों वाले (वज्रेण) वज्र से तोप से, शत्रु की (सानौ + अधि) शिखर पर (नि + जिघ्नते) मार

करता है। वह (इन्द्रः) ऐश्वर्य्यसंपन्न, शत्रुविदारक राजा (स्वराज्यं + अनु + अर्चन्) स्वराज्य नियमों के अनुकूल आचरण करता हुआ (मन्दानः) मस्त हुआ (सखिभ्यः) प्रजारूपी मित्रों के लिए (अन्धसः) विविध प्रकार के अन्नों को तथा (गातुं) वाणी को (इच्छति) चाहता है।

इस मन्त्र में वज्र का विशेषण शतपर्वा है। शतपर्वा का अर्थ सैकड़ों जोड़ों वाला = अर्थात् विपुलशक्तिसंपन्न किया गया है। वेद में शतपर्वा वज्र का वर्णन बहुत आता है। पुराने धनुर्वेद के लुप्त होने के कारण आज 'शतपर्वा वज्र' का ठीक स्वरूप जानना कठिन सा है। तो भी इतना तो स्पष्ट है कि यह ऐसा अस्त्र था जिसकी मार सूर्य्य-किरणों की भांति सब ओर हो सकती थी।

स्वराज्य के लाभ का थोड़ा सा संकेत इस मन्त्र में है। पराया राजा प्रजा को दोहना भर जानता है। प्रजा के भूखे मरने तथा अज्ञानी होने से उसे कोई क्लेश नहीं होता, किन्तु अपना राजा प्रजा के ज्ञान तथा भोजन दोनों की सुचारु व्यवस्था करता है। पराया राजा प्रजा की वाणी को रोक देता है, किन्तु अपना राजा प्रजा की वाणी खुली रखना चाहता है, वह अपनी प्रजा को गूंगा नहीं रखना चाहता। अन्तरं महदन्तरं !!!

इन्द्र की जय स्वाभाविक है

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन्वीर्य्यम्।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥७॥

हे (इन्द्र) शत्रुविदारक सुखदातः राजन् ! (यत्) जो (त्यं) इस (तं) उस (मायिनं) छली कपटी (मृगं) परस्वापहर्त्ता = दूसरों के धनादि के हरण करने वाले को (ह) सचमुच (त्वं) तू ने (स्वराज्यं + अनु + अर्चन्) स्वराज्य की अनुकूलता करते हुए (मायया) बुद्धि से (अवधीः + उ) मार ही डाला। हे (वज्रिन्) वज्रधारिन् !

(अद्रिवः) पर्वततुल्य अचल राज्य वाले राजन् ! वह (तुभ्यं) तेरा (अनुत्तं) स्वाभाविक (इत्) ही (वीर्य्यम्) बल है।

स्वराज्यस्थ राजा की शत्रु पर जो विजय होती है, वह अनिवार्य्य है, क्योंकि वह स्वाभाविक शक्ति से काम लेता है। स्वराज्य पर विपत्ति आई देख प्रत्येक स्वराज्याभिमानी उसकी रक्षा के लिए प्राण अर्पण करने को तत्पर हो जाता है। शत्रुवारण करने की राजा की शक्ति कहीं बाहर से नहीं आया करती। वह तो उसको प्रजा से प्राप्त होती है। यही उसकी स्वाभाविक शक्ति है। इस शक्ति की प्राप्ति के लिए राजवर्ग को वैयक्तिक स्वार्थ छोड़ना पड़ता है। सदा प्रजा के हितसाधन पर दृष्टि रखनी पड़ती है। इसी प्रकार आत्मा जो अज्ञान तथा विषयवासना आदि शत्रुओं पर विजय पाता है, वह स्वाभाविक ही है। क्योंकि सत्य की, न्याय की, धर्म्म की जय अनिवार्य्य है। असत्य का परिणाम तो नाश है। इसी वास्ते तो लोकोक्ति है—'सत्यमेव जयते नानृतम्।'

प्रजाहितैषी राजा ही बलवान् होता है

वि ते वज्रासो अस्थिरन्नवतिं नाव्या अनु।
महत्त इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्ते बलं हितमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥८॥

हे (इन्द्र) राजन् ! (स्वराज्यं + अनु + अर्चन्) स्वराज्यानुकूल आचरण करने से (ते) तेरा (वीर्यं) शत्रुवारणसामर्थ्य (महत्) बड़ा है और (ते) तेरी (बाह्वोः) भुजाओं में (बलं) प्रजा-रक्षणशक्ति (हितः) रक्खी है। अतः (ते) तेरे (वज्रासः) वज्र (नवतिं) नव्वे (नाव्याः) नदियों आदि के (अनु) अनुकूल (वि + अस्थिरन्) विशेष रूप से स्थिर हों।

प्रजा की अनुकूलता के कारण राजा में बहुत बड़ा सामर्थ्य आ जाता है। शत्रुवारणसामर्थ्य तथा प्रजारक्षणसामर्थ्य इन दोनों शक्तिओं का

मूल प्रजा ही है। शक्तिशाली, स्वावस्था से परिचित, ज्ञानसंपन्न प्रजा स्वराज्यहितकारी राजा के लिए रीढ़ की हड्डी का काम देती है। प्रजा से शक्तिप्राप्त राजा प्रजा के लिए ढाल का काम देता है। ढाल फेंक दी जा सकती है, बदली जा सकती है किन्तु रीढ़ की हड्डी के बिना जीवन असंभव है। उसके किसी प्रकार विकृत होने पर नाना विपत्तियों की उत्पत्ति हो जाती है।

वेद उपदेश करता है, प्रजा से शक्ति प्राप्त कर राजा को नाव्या = नदियों की रक्षा करनी चाहिए। नाव्या = नावा तार्य्या = नौका, जहाज़ आदि के द्वारा पार करने योग्य, वह नदी, झील, खाड़ी, समुद्र, सागर सब हो सकते हैं। नदी, सागर आदि की रक्षा से जहां प्रजा के लिए जलादि की रक्षा अभिप्रेत है, वहां बाह्य शत्रुओं के आक्रमणों से बचाना तथा व्यापाररक्षा भी लक्ष्य है। इसी वास्ते 'नाव्याः' पद का प्रयोग किया है। नौकादि से व्यापार तथा सेना संचालन दोनों कार्य्य निष्पन्न होते हैं।

नवति संख्या उपलक्षण है। वैदिक शब्दों का यही महत्व है कि वे एक विलक्षण रीति से अनेक अर्थों का सुगमतया बोध करा देते हैं।

प्रजा से रक्षणीय राजा

सहस्रं साकमर्चत परिष्टोभत विंशतिः।
शतैनमन्वनोनुवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥९॥

जो (ब्रह्म) बड़े तथा (उद्यतं) उदीयमान अथवा उन्नत (स्वराज्यं) स्वराज्य का (अनु) प्रजा की अनुकूलता से (अर्चन्) पूजन रक्षण करता है। प्रजाएं (सहस्रं) हजारों की संख्या में (साकं) इकट्ठी होकर (एनं) इसका (अर्चत) सत्कार करती हैं। विंशतिः) बीसियों की संख्या में इसको (परि + स्तोभत) चारों ओर से घेर

रखती हैं। (शता) सैकड़ों इसकी (अनु) अनुकूलता में (अनोनुवुः) झुक जाते हैं। ऐसा राजा तथा राज्य (इन्द्राय) ऐश्वर्य्य का हेतु होता है।

इस मन्त्र में राजा के चुनाव की चर्चा है। जिस व्यक्ति में राष्ट्रपालनादि सद्गुण विद्यमान हों। उसे सब मिलकर राजा चुनें। राजा चुनने पर राष्ट्रस्थ लोगों का दायित्व = जिम्मेदारी समाप्त नहीं हो जाती, अपितु उनका उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है। जिस प्रकार सहस्रों ने अपने मत से vote से उसे राजा चुना है उसी प्रकार सब मिलकर उसे सहायता दो। राष्ट्ररक्षा के लिए सदा उसे घेरे रहो, अर्थात् किसी बाह्य अथवा आभ्यन्तर उपद्रव के समय वह अकेला न हो जब इस प्रकार सैकड़ों और हजारों उसकी सहायता में तत्पर होंगे, तब वह राष्ट्र उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होगा। उसमें धी-श्री की वृद्धि होगी। अध्यात्मपक्ष में—सहस्रं साकमर्चत = हज़ारों इकट्ठे होकर भगवान् की अर्चना करो। अथवा सहस्रों शक्तियों वाले आत्मा तथा परमात्मा की अर्चना करो। विंशति, १० प्राण तथा १० इन्द्रियों द्वारा उसी का धारण करो। शतं = सैकड़ों मिलकर अथवा पूर्ण आयु पर्य्यन्त सकलैश्वर्यसंपन्न भगवान् को नमन करो। तब सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म तुम्हें प्राप्त होगा।

———

वृत्रनाश राजा का महाबल है

इन्द्रो वृत्रस्य तविषीं निरहन्त्सहसा सहः।
महत्तदस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वाँ असृजदर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१०॥

(इन्द्रः) विद्युत् के समान शीघ्रकारी सभाध्यक्ष राजा (वृत्रस्य) मेघतुल्य शत्रु की (तविषीं) सेना तथा (सहः) बल को (सहसा) अपनी शक्ति से अथवा अचानक (निः + अहन्) नाश करे, क्योंकि (अस्य) इस राजा की (तद्) यही (महत्) बड़ी (पौंस्यं) मरदानगी, वीरता है जो वह (वृत्रं) आच्छादक शत्रु को (जघन्वान्)

मार देता है और (स्वराज्यं+अनु+अर्चन्) स्वराज्य व्यवस्था के अनुकूल आचरण करता हुआ प्रजाओं को (असृजत्) मुक्त रखता है अर्थात् दुःखादि से छुड़ा सुख में रखता है।

प्रजा से अभिषिक्त राजा में दो गुण अवश्य चाहिएं। राष्ट्रविरोधी शत्रुओं का दमन तथा प्रजावर्ग में योग्य स्वातन्त्र्य।

कई ऐसे लोग होते हैं, जिनमें शत्रुदमनसामर्थ्य तो होता है, किन्तु शत्रु के अभाव में अपने उस सामर्थ्य का प्रजा पर उपयोग करने लग जाते हैं। जिससे प्रजा में अशान्ति उत्पन्न हो जाती। फलतः राष्ट्र में दुःख और विपत्तिरूप वृत्र छा जाते हैं। वेद कहता है, राजा ऐसा चाहिए, जो प्रजा को (असृजत्) = सिरजन करे। दमन से सिरजन नहीं, संहार अवश्य होता है। इस वास्ते प्रजा को सुखी बनाने का यत्न करे।

अध्यात्म पक्ष—आत्मा का ही यह सामर्थ्य है कि वह अज्ञान का नाश करके परमानन्द सुख की प्राप्ति करता है।

———

राजभय

इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही।
यदिन्द्र वज्रिन्नोजसा वृत्रं मरुत्वाँ अवधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥११॥

हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसंपन्न (वज्रिन्) शस्त्रास्त्राढ्य राजन्! (यत्) जो तू (स्वराज्यम्+अनु+अर्चन्) स्वराज्य की अनुकूलता से व्यवहार करता हुआ (मरुत्वान्) मरने मारने वाले अथवा राष्ट्रहित के लिए मर मिटने वाले सिपाहियों से युक्त होकर (ओजसा) बल से, पराक्रम से (वृत्रं) शत्रु को (अवधीः) मार देता है, तब (इमे) यह (मही) विशाल द्यावापृथिवी अथवा अन्दर बाहर के दोनों बड़े शत्रु (चित्) भी (तव) तेरे (मन्यवे) मन्यु के, क्रोध के, न्यायव्यवस्था के (भियसा) भय से (वेपेते) कांपते हैं।

शत्रु पर जब राजा विजय पा लेता हैं, तब राष्ट्रद्रोही—अन्दर बाहर दोनों स्थानों के—उसके मन्यु से कांपते हैं, क्योंकि उन्हें दण्ड का भय सताता है। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि देशद्रोही लोगों का परिणाम अन्त में बहुत ही दुरन्त हुआ है।

अध्यात्म—आत्मा जब अविद्या का नाश कर लेता है, तो शरीर और इन्द्रियां कांपती हैं, अथवा मन और शरीर काँपते हैं। क्योंकि अब इनकी भी समाप्ति समीप आ जाती है।

परमात्मा की न्यायव्यवस्था में किसी प्रकार की न्यूनता अधिकता की संभावना नहीं। इस वास्ते दोनों जहान उससे कांपते हैं। 'भीषाऽस्य तपति सूर्यः' आदि तभी ऋषियों ने कहा है।

निर्भय राजा

न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो वि बिभयत्।
अभ्येनं वज्र आयसः सहस्रभृष्टिरायतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥१०॥

जो राजा प्रजाओं का (स्वराज्यं अनु) स्वराज्य की व्यवस्था के अनुकूल (अर्चन्) मनोरंजन करता है। उस (इन्द्रं) राजा को (वृत्रः) वृत्र के समान शत्रु (न) न तो (वेपसा) वेग से, कपरूपी से और (न) न (तन्यता) विस्तार से ही (वि) विशेष (बिभयत्) डरा सकता है। अपितु उल्टा (अभि) लक्ष्य करके (एनं) इस वृत्र को (सहस्रभृष्टिः) हज़ारों को भून डालने वाला (आयसः) लोह आदि धातु से बना हुआ (वज्रः) वज्र (आयत) सब ओर से मार करता है। [आयत 'यमो गन्धने' से]

जिस राजा की पृष्ठ पर समूचा राष्ट्र हो, उस राजा को शत्रु से कोई भय नहीं हो सकता, चाहे शत्रु कितना ही प्रबल एवं शक्तिशाली क्यों न हो। इस मन्त्र में वज्र के दो विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

एक 'आयसः' और दूसरा 'सहस्रभृष्टिः'। 'अयः' का साधारण अर्थ लोहा होता है, किन्तु वेद में धातुमात्र को अयः कहते हैं। इस विशेषण से वज्र स्पष्ट लौकिक आयुध = हथियार सिद्ध होता है। सहस्रभृष्टि से यह आज कल की मशीनगन या इससे भी कोई भयंकर आयुध ज्ञात होता है।

अध्यात्म—आत्मराज्यप्राप्त आत्मा सर्वथा अकुतोभय होता है।

———

आश्वासन

यद्वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः।

अहिमिन्द्र जिघांसतो दिवि ते बद्बधे शवोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१३॥

(यत्) जैसे (दिवि) आकाश में सूर्य्य (अशनिं) बिजुली का प्रहार करके (अहिं) कुटिलाकार (वृत्रं) आच्छादक मेघ को (बद्बधे) नाश कर देता है, वैसे ही हे (इन्द्र) शत्रुनाशक राजन्! तू भी (स्वराज्यं + अनु + अर्चन्) स्वराज्य व्यवस्था के अनुकूल प्रजाओं का सत्कार करता हुआ (तव) अपने (वज्रेण) शत्रु-वारण-सामर्थ्य से, कुटिल स्वभाव वाले शत्रु के साथ (सम् · अयोधयः) भली प्रकार लड़ाई कर। (च) और नाश कर। ऐसे वृत्र को (जिघांसतः) मारने वाले (ते) तुझ राजा का यह (शवो) सामर्थ्य है।

मानो प्रजा राजा से कह रही है कि राजन्! यदि आप स्वराज्य का धर्म्म-नीति के अनुसार पालन करेंगे, प्रजा के धन जान की रक्षा में पूरे तत्पर रहेंगे, तो प्रजा भी आपकी सहायता भरपूर करेगी। प्रजा की सहायता से आप सूर्य्य समान तेजस्वी होंगे। ऐसी अवस्था में आपको किसी भी शत्रु से भयभीत होने की ज़रूरत नहीं है। शत्रु के नाश करने को आप में पर्य्याप्त सामर्थ्य है। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों के द्वारा बिजली का प्रहार कर मेघ को छिन्न भिन्न कर पृथिवी को तृप्त कर देता है,

आप भी आग्नेय अस्त्र आदि हथियारों से शत्रु का मुकाबिला कर उसे हराइए और प्रजा का सुख बढ़ाइए।

प्रजारंजन करने वाले राजा को प्रजा से ऐसा आश्वासन मिलना योग्य ही है।

स्थावर जंगम का कंपाने वाला

अभिष्टने ते अद्रिवो यत्स्था जगच्च रेजते।
त्वष्टा चित्तव मन्यव इन्द्र वेविज्यते भियाचेन्नु स्वराज्यम् ॥१४॥

हे (इन्द्र) न्यायकारिन् राजन्! (यत्) जो तू (स्वराज्यं + अनु + अर्चन्) स्वराज्य व्यवस्था के अनुकूल व्यवहार करता है, इस वास्ते हे (अद्रिवः) पर्वत की भांति न्याय व्यवहार में अचल! (ते) तेरे (अभिष्टने) न्यायपूर्ण व्यवहार के कारण (स्थाः) स्थावर (च) और (जगत्) जंगम (रेजते) कांपते हैं। (त्वष्टा) शत्रु का छेदन भेदन करने वाला सेनापति (चित्) भी (तव) तेरे (मन्यवे) क्रोध के (भिया) भय से (वेविज्यते) बराबर घबराता रहता है।

जो राजा ठेठ न्याय करता हो, किसी का भी पक्षपात न करता हो, उससे समस्त संसार कांपता है, डरता है। औरों की क्या कहें, उसकी समस्त सेनाओं का संचालक, शत्रुविदारक, सेनानायक भी उस के मन्यु से डरा करता है। इस मन्त्र में मन्यु एक महत्व का शब्द है। मन्यु का अर्थ होता है क्रोध किन्तु साधारण क्रोध नहीं। जिस क्रोध में मनन की, विचारने की काफ़ी पुट हो, उसका नाम मन्यु है। किसी के अपराध की सूचना मिलने पर, उसके सारे पहलुओं को विचार कर अपराधी पर जो क्रोध किया जाता है, वह मन्यु कहलाता है। इससे डर लगना स्वाभाविक ही है।

अध्यात्म में—पारमात्मिक नियमों के पालन करने वाले से सब कांपा करते हैं।

प्रभु सब को व्यवस्था में रखते हैं। उससे स्थावर जंगम, प्राणी अप्राणी सब डरते हैं।

अनुपम शक्तिवान्

नहि नु यादधीमसीन्द्रं को वीर्य्या परः।
तस्मिन्नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि संदधुरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१५॥

(यात्) सर्वत्र पहुंच जाने वाले (इन्द्रं) राजा को हम (नु) ही (नहि) नहीं (अधि इमसि) जान सके। (वीर्य्या) शक्ति के द्वारा (कः) कौन (परः) दूसरा उसे पहचान सकता है। जो (स्वराज्यं + अनु + अर्चन्) स्वराज्यानुसार प्रजा से व्यवहार करता है। (देवाः) विद्वान् लोग, परमात्मा की दिव्य शक्तियां अथवा राजा को चुनने वाले लोग (तस्मिन्) उस में (नृम्णम्) धन, यश (उत्) और (क्रतुं) कर्मशीलता, पुरुषार्थ और (ओजांसि) आत्मा एवं मन संबन्धी बलों को (सम् + दधुः) भली प्रकार डालते हैं।

प्रजा जिस की पृष्ठ पर हो, ऐसे राजा की शक्ति की थाह प्रजा भी नहीं पा सकती, कोई ऐरा ग़ैरा तो क्या पाएगा। कारण यह है कि प्रजा के शिरोभूत विद्वानों ने उस राजा को यशस्वी, ओजस्वी बनाया है।

वेद यहां स्पष्ट शब्दों में कह रहा है, राजा में जो अथाह शक्ति है, वह प्रजा के कारण है। इसे स्थिर रखने के वास्ते राजा को सदा प्रजा के संपर्क में रहना चाहिए। प्रजा के प्रतिनिधियों से मिलते रहना चाहिए।

अध्यात्म पक्ष में—भगवान् की महिमा अपार है। सूर्य्यचन्द्र आदि सारे देव उसकी संपत्ति एवं शक्ति हैं।

ज्ञानियों का अनुसरण

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत ।

तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥१६॥

(अथर्वा) हिंसादिदोषरहित (मनुः) मननशील (पिता) पालक, वेदाध्यापक (दध्यङ्) उत्तम गुणों को प्राप्त करने वाला—यह सब (याम्) जिस (धियं) बुद्धि अथवा कर्म को (अत्नत) करें, (तस्मिन्) उसी कर्म अथवा बुद्धि में तुम भी (पूर्वथा) पूर्व की भांति (ब्रह्माणि) ज्ञान-व्यवहारों को करो । (स्वराज्यं + अनु · अर्चन्) स्वराज्य का पालन करने वाले ऐसे (इन्द्रे) सद्गुणसंपन्न राजा को (उक्था) सब स्तुतियां (सम्—अग्मत) भली प्रकार मिलती हैं ।

सन्देह होने पर क्या करना चाहिए ? वेद कहता है, जैसे ईर्ष्याद्वेष-हिंसादि दोषों से रहित धार्मिक राजा करते हैं, वैसे ही तुम भी करो, तुम्हें सफलता मिलेगी ।

तैत्तिरीयोपनिषद् में गुरु शिष्य को उपदेश देते हुए—'यदि ते कर्म-विचिकित्सा स्यात्—ये तत्र ब्राह्मणा अलूक्षाः संमशिन ··· 'इत्यादि सन्दर्भ इस मन्त्र का अनुवाद है । वेद का यही सौंदर्य है कि अन्योक्ति से कई प्रकार के उपदेश कर देता है ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकेण वेदानन्देत्यन्वर्थापराभिधानेन स्वामिना श्रीदयानन्दतीर्थेन कृता ऋग्वेदीय (१ । ८०) स्वराज्यसूक्त-व्याख्या पूर्त्तिमगमत् ।

वेदोपदेशे द्वितीयो भागश्च संपूर्णः ॥

———